# ओंप्रकाश



# सबद रमन्ता सबद गुणन्ता

दि किसी ..ारतीय भाष: ट ओंप्रक ी न
, प्रबुद्ध और साहित्य के लिए समर्पित प्रकाशक
। पिछले लगभग तीन दशकों के दौरान उन्होंने
काशन को नये धरातल पर लाकर खड़ा कर
साहित्यकारों से उनके सम्बन्ध व्यावसायिक न
व्यक्तिगत और पारिवारिक बन चुके थे। वह
ी थे लेकिन अपने से ज़्यादा दूसरों का लेखन
न्द था।

मन्ता सबद गुणन्ता" ओंप्रकाशजी के सन् 47
के बीच लिखे गये लेखों का ऐसा संग्रह है जिसमें
साम्प्रदायिकता के स्वरूप और प्रभाव से लेकर
प्रकाशन के विभिन्न पहलुओं पर गहराई और
के साथ विचार किया है...पंतजी के साथ रूस
ीप की लम्बी यात्राएँ—उनके संवेदनशील कला-
ि का प्रमाण हैं।

सुपरिचित कथाकार और निर्भीक विचारक
यादव का संस्मरण "सहयात्री", उनके कर्मठ और
यक्तित्व को समेटने और समझने का अन्तरंग
शब्दों के माध्यम से एक शब्द-प्राण व्यक्ति की
क बुनावट और उपलब्धियों की सार्थकता की

25 रुपये

2

ग।

कृपया यह ग्रन्थ नीचे निर्देशित तिथि के पूर्व अथवा उक्त तिथि तक वापस कर दें। विलम्ब से लौटाने पर प्रतिदिन दस पैसे विलम्ब शुल्क देना होगा।

सबद रमन्ता
सबद गुणन्ता



# सबद रमन्ता
# सबद गुणन्ता

ओंप्रकाश

संकलनकर्ता
राजेन्द्र यादव



राधाकृष्ण

ओंप्रकाशजी के स्मृति-दिवस
2 दिसंबर, 1979 को प्रकाशित



प्रथम संस्करण : दिसम्बर 1979

मूल्य
25 रुपये

प्रकाशक
राधाकृष्ण प्रकाशन
2, अंसारी रोड, दरियागंज,
नई दिल्ली-110002



मुद्रक
भारती प्रिंटर्स
दिल्ली-110032

याँ चम्पई धूप है गुलाबी साया
रहता है सहाबे-अबदियत छाया
'जोश', आओ कि मुंतज़िर है बज़्मे-अबदीह
आया, यारामे-रफ़्ता, आया, आया



# क्रम



# सहयात्री ओमजी

फूलों की क्यारियाँ,
पानियों तक सरकते जंगल,
पहाड़ियों की सलवटों में एकान्त, मन्दिर
चाँदनी और बारिश
गलबहियाँ डाले कबूतर...
पहले यह सब देखता था
और तुम मेरे सामने खड़ी होती थीं...
आज हारे हुए पेड़
झुकी थकान और ढलानें
बारात लिये डूबती नावें
नक्षत्रों का टूटना ही
मुझे तुमसे जोड़ता है...
पहले तुम उमँगती सीढ़ियों का न्योतता उजास थीं
आज सब-कुछ जान लेने की दहशत हो...।

लगभग पच्चीस बरस बाद मैंने यह कविता लिखी है। ओंप्रकाशजी के न रहने पर। 30 अगस्त, 1979 की सुबह। खुद नहीं जानता कि मैं उनसे, भीतर इतनी गहराई से जुड़ा रहा हूँ। हालाँकि ऊपर से हमारे सम्बन्धों में ऐसा असाधारण कुछ भी नहीं था। बस, एक घनिष्ठ और बेतकल्लुफ़ पुराना परिचय। छेड़छाड़! शायद एक-दूसरे के प्रति गहरा और अनकहा सम्मान। शब्दों से अधिक व्यवहार में मुखर। नफ़रत और प्यार के लम्बे परिचय में यह खुलाव आया, इमरजेंसी और इमरजेंसी से दो-तीन साल पहले से। जब मालाएँ और विरुदावलियाँ पहनाने के दिन आये तो हम लोग अनजाने ही ऐसे धकिया दिये गये कि दोनों ने ही एक-दूसरे को आमने-सामने दीवार के साथ कोने में पाया। मैं हर बार इनकार

कर रहा था। अनेक निमंत्रण, दवाव और धमकियाँ ओंप्रकाशजी के ही माध्यम से मुझ तक पहुँची थीं। कभी फ़ोन पर वे समझाते, कभी डराते। अक्सर ही छेड़ते : "वहाँ नहीं जाओगे? इस वार आपके वे मित्र डेलिगेशन लेकर जा रहे हैं, मुझे कहा है कि आपको कह दूँ ।" "आप जा रहे हैं?" "मैं न तो लेखक हूँ न पत्रकार...।" "तव छोड़िये...।"

इधर तो चार-पाँच सालों से शायद ही कोई हफ़्ता, दिन गया हो, जव हम लोग टेलीफ़ोन से, या व्यक्तिगत रूप से न मिले हों। सव लोगों की तरह वे भी मुझसे आग्रह करते, उकसाते और छेड़ते कि मैं लिखता क्यों नहीं हूँ। मैं कहता, "ओंप्रकाशजी, मैं नियमित ही तो लिखता और पढ़ता हूँ। शायद ही किसी दिन अपनी दुनिया से वाहर रहा होऊँ। हाँ, कहानी और उपन्यास इन दिनों लिखने का मन नहीं हुआ।" "मगर वही तो आपका असली क्षेत्र है।" "आपकी वात सही है। मगर वह क्षेत्र भी तो मैंने ही चुना था। सवाल साहित्य के माध्यम से अपने-आप और अपने परिवेश से जुड़े होने का है और उसमें मुझे चूक नहीं लगती। मैं सुवह जल्दी उठकर रोज़ दो-तीन घंटा लिखता-पढ़ता हूँ।"— "छोड़िये, हिन्दुस्तान का कोई लेखक जल्दी नहीं उठता। राकेश नौ वजे ।" मैं वात काट देता, "यही तो रोना है। लेखकों के वारे में आपकी सारी धारणाएँ राकेश को लेकर ही वनी हैं। आप समझते हैं, कुछ आदतें गुरुकुल वालों की ही वपौती हैं।" और यही देखने के लिए वे महीनों सुवह साढ़े पाँच के आस-पास फ़ोन करते थे। वाद में भी जव कोई गम्भीर वात करनी होती तो यही समय होता। उनके डर से मैं आज तक फ़ोन पास ही रखकर सोता हूँ कि पता नहीं उन्हें कव यह लगे कि माइकेल हैर नाम के पत्रकार ने वियतनाम युद्ध के जो "डिस्पैचेज़" लिखे हैं वे कितने हृदयस्पर्शी हैं और अमुक समाजशास्त्री ने व्राज़ील के ग़रीव परिवार पर जो पुस्तक लिखी है वह कितने उपन्यासों से अधिक महत्त्वपूर्ण है, और उधर हमारे हिन्दी के लेखक कैसे मन के भीतरी चहवच्चों में कुदकड़ लगा रहे हैं। और कुछ नहीं तो, "विसमिल्ला की शहनाई टेप पर चढ़ी है और मैं ल'कैरी का नया उपन्यास पढ़ रहा हूँ। सच ए व्यूटीफ़ुल थिंग आपको जगा दिया क्या ..?"

हर वार पढ़ने-लिखने, संगीत-रिकार्ड्स, अपनी और दूसरों की नयी कितावों की सूचना। मैं अक्सर ही उन पर झल्ला पड़ता, "ओंप्रकाशजी, जो किताव आप छाप या पढ़ रहे होते हैं, वह संसार की सर्वश्रेष्ठ पुस्तक होती है, हिन्दी के सिवा हर लिपि में छपी चीज़ व्यूटीफ़ुल होती है ।" "तो दो न भाई मुझे, मैं अपनी राय वदल दूँगा ।" वे कहते। या मैं छेड़ता, "हम लोगों को धमकाने और रौव डालने के लिए आप संगीत की वातें करते हैं। आपकी समझ-वमझ में तो कुछ आता नहीं है ।" हँसते और भड़क उठते, "समझ? हुँह भाई

मेरे, मैंने रात-रात-भर संगीत-सम्मेलन अटेण्ड किये हैं।" "भाभीजी को दुःखी करने, या मुझ-जैसों को डराने के लिए। म्यूज़िक-कान्फ्रेंसें अटेण्ड तो मैंने भी की हैं, मगर मुझमें तो हिम्मत है कि कहूँ, मेरी समझ में ख़ाक नहीं आता। अपना तो सुगम संगीत ही ठीक है.।"—"अरे भाई, कैसी बातें करते हो? इतना आनन्द आता है, इतना आनन्द आता है कि शब्दातीत ।" और फिर चालू हो जाते, भीमसेन जोशी, पं० जसराज, कुमार गंधर्व, मेंहदी हसन, बेग़म अख़्तर, मलिका पुखराज या क्या-क्या पिछले दिनों जब उन्हें तीसरा या चौथा हार्ट-अटैक हुआ था तो एकदम आराम करने की सलाह हो गयी थी। आराम या रिलैक्स करने का मतलब अकेले, चुपचाप लेटे रहना नहीं, दोस्तों से मिलना, अनेक विषयों पर बातें या बहसें करना भी है—अपनी इस हठ पर डॉक्टरों-नर्सों से लड़ने के अलावा उन्होंने संगीत-नाटक अकादमी की लाइब्रेरी से न जाने कब-कब के पुराने संगीत दर्जनों की संख्या में टेप करा लिये थे और एकान्त में चुपचाप उन्हें सुना करते थे.. परिणामस्वरूप पिछले दिनों बड़े-बड़े संगीतज्ञों, संगीत के उदात्त आनन्द और लोकोत्तर शान्ति को लेकर ज्यादा उत्साह से ही बोलने लगे थे। मैं कहता, "पहले आप साहित्य को लेकर धमकाया करते थे, अब एक हथियार यह और मिल गया...।" "धमकाना! हुँह! आपको पता ही नहीं, संगीत आदमी की आत्मा को कैसे ट्रान्सफ़ॉर्म करता है।" दो-चार बार मैंने घर जाकर उनकी मुग्ध तन्मय उपस्थिति में आत्मा को ट्रान्सफ़ॉर्म करने की कोशिश की और फिर एक दिन "गर्म हवा" की "क़व्वाली, मौला सलीम चिश्ती, आक़ासलीम चिश्ती", रविशंकर और यहूदी मैनुहिन की जुगलबन्दी और "राधा क्यूँ गोरी, मैं क्यूँ काला" भरवा कर ले आया ..संगीत के नाम पर उनकी यही एक भेंट मेरे पास है जो उन्होंने एक-एक शब्द, लय पर उच्छ्‌वासित होकर ख़ुद टेप की थी ।

लगता था, जैसे पिछले दो-ढाई सालों से वे केवल संगीत में जीते थे। कहते थे, "रात में कभी आँख खुल जाती है तो बहुत धीमे सुर में चुपचाप स्टीरियो पर सुनता रहता हूँ।" और टेलीफ़ोन पर बातचीत या छोटी-सी मुलाक़ात में हमेशा लगता रहता जैसे भीतर के किसी संगीत में डूबे हैं। कलकत्ता, बम्बई पता नहीं, कहाँ-कहाँ से उन्होंने संगीत टेप करके मँगाये थे... फ़ैज़ और संगीत उन्हें बच्चों जैसे उत्साह से भर देते थे और नये खिलौने की तरह हरेक को दिखाना चाहते थे...।

भौतिक शरीर के वस्त्रों, यानी रेशम और साड़ियों से शुरू होकर भावों और विचारों के "वस्त्रों"—भाषा और शब्दों तक की यह यात्रा, किस तरह सूक्ष्म शब्द या सुर तक जाती है, ओंप्रकाश जी इसी का उदाहरण हैं। स्थूल से सूक्ष्म की ओर उड़ान भरने की उनकी यह बेचैनी और उत्साह—छटपटाहट...यह उनके व्यक्तित्व की गतिशीलता—डायनेमिज़्म—और चुम्बक था जो मुझे निरन्तर

उनकी तरफ़ खींचता था। उधर मुझमें ऐसा क्या था जो उन्हें प्राय: सुबह टेलीफ़ोन से, या शाम को दफ़्तर से उतरकर सिर्फ़ पाँच-सात मिनट की देखा-देखावली भेंट में बुला लाता था? क्यों वे मुझे संगीत के आनन्द या ब्लिस में हिस्सेदार वनाना चाहते थे? क्यों वे हर किताव पढ़कर हिन्दी-लेखक के झूठे, हवाई मूल्यों का ग़ुस्सा मेरे सामने व्यक्त करते थे? क्यों राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय उठापटक पर अपनी कुढ़न निकालते थे और भारतीय चरित्र की गिरावट पर मुझे गवाह बनाकर अपना उवाल निकालते थे? निश्चय ही अपने अन्दर की इस अशान्ति में वे औरों को भी शामिल करते रहे होंगे, क्योंकि आदमी तो यारवाश थे। मगर वह कौन-सा अधिकार था कि अपनी आन्तरिक कचोट के हर पहलू को ऐसे निस्सकोच होकर खोलते थे? मुझे लगता है, वह थी एक निर्वैयक्तिक निजी पसन्द, एक स्वार्थहीन पुरानी मैत्री...लगभग पच्चीस वर्ष समान्तर विकास की निकटता, लगाव; क्योंकि न मेरा उनके साथ कोई व्यावसायिक सम्बन्ध था न लेखकीय। इसलिए दोनों आश्वस्त थे कि इस सहज-पसन्द और एक-दूसरे में दिलचस्पी का कोई ग़लत इस्तेमाल नहीं होगा। दिल्ली या किसी भी महानगर में हर सम्वन्ध के पीछे किसी-न-किसी स्वार्थ की गंध या आशंका वनी रहती है। बहुतों के लिए अकल्पनीय है स्वार्थहीन सम्वन्धों की ऐसी निरन्तर ऊष्मा को पचाना। मगर मेरे तो दसियों वरसों के दर्जनों ऐसे सम्वन्ध हैं जहाँ दोनों ओर से कभी कोई मतलब नहीं निकाला जा सका—यों साथ हैं तो दुःख-सुख की हिस्सेदारी तो है ही। पतले दिनों में हमने पार्क में साथ बैठकर मूँगफलियाँ भी खायी हैं और उच्चतम पदों पर बैठकर शरावें और पार्टियाँ भी उड़ायी हैं। किसी का उपयोगी-अनुपयोगी होना मेरे लिए आत्मीयता का आधार कभी नहीं रहा। ओंप्रकाश जी से भी निकटता तभी हुई जब हम दोनों ने ही अनजाने मानसिक रूप से तय कर लिया कि एक-दूसरे के किसी काम नहीं आ सकेंगे (मन्नू के उपन्यास "महाभोज" का प्रसंग तो ठीक उनके अन्तिम दिनों में आया)।

अधीरता, वेचैनी और उत्साह—शायद उनके व्यक्तित्व के ये अत्यन्त ही महत्वपूर्ण तत्व रहे हैं। जब देखो तब किसी-न-किसी योजना की जान को लगे हैं और हमेशा ही आवेश में हैं। जो भी कार्य, समस्या, पुस्तक या व्यक्ति सामने है उसे लेकर मैंने उन्हें हर वक़्त एक तनाव-भरे जोश में ही पाया। वे उससे इतना अधिक एकाकार होते थे कि वह भूत या आब्सैशन बनकर उन पर हावी रहता था। शायद जिस व्यक्ति से इस तरह वे आख़िरी वार जुड़े थे वह राकेश था।

मैं जानता हूँ, इस तरह अतिरिक्त भावावेश से जुड़ने वालों की दोस्ती और दुश्मनी दोनों आसान और सहज नहीं होतीं। दोस्त हैं तो आपकी हर समस्या उनकी अपनी है, समय-साधनों की चिन्ता किये विना वे आपकी हर सनक और

ज़रूरत पूरी कर रहे हैं, अपने बीवी-बच्चों की शान्ति-सुविधा की क़ीमत पर वे आपकी आकांक्षाओं, इच्छाओं और योजनाओं को अपने ऊपर ओढ़े हैं। आप उनके लिए एक धार्मिक उद्देश्य या "होली-कॉज़" बन जाते हैं। अब चूंकि आवेश एक अस्थायी मनोभाव है, इसलिए एक दिन किसी भी छोटी-सी बात पर टूटकर अपने-आप में वापस लौट आता है। इस तरह लौटा हुआ आवेश पहले आत्म-धिक्कार बनता है कि क्यों उसे कभी कोई सही आदमी नहीं मिलता, लोग क्यों हमेशा उसे ही बेवकूफ़ बनाकर ठगते हैं, क्यों हर बार उसका ही इस्तेमाल किया जाता है? इस शहीदाना धिक्कार के बाद आता है एक ठहराव, या पुनः बाहर की यात्रा। इस बार अगर लक्ष्य नया हो तो फिर पुराना "होली-कॉज़" वाला भाव और अगर वही हो तो हिंस्र प्रतिशोध : नहीं, मैं इतनी आसानी से न तो बेवकूफ़ बनूंगा, न ही इस्तेमाल किया जाऊँगा मैं दिखा दूंगा ..यानी "सबक़ सिखाने" का नया दौर और नया उत्साह .।

कहने की ज़रूरत नहीं कि यह मूलतः भावुक व्यक्ति का स्वभाव है और यह व्यक्ति बहुत जल्दी ही कुण्ठित और आत्मकेन्द्रित होने के लिए अभिशप्त है। लोगों के स्वार्थी, टुच्चे और ज़लील होने की इस उपलब्ध सच्चाई से "तृप्त" यह व्यक्ति ख़ुद अपने भीतर सिमट आता है। वस्तुतः स्थिति हो या लोग, वह उन्हें "चीज़" की तरह देखता है—जिनसे वह अपनी भावात्मक उदात्तता का आश्वासन निचोड़ सके। या कलाकार की तरह उन्हें अपने सपनों, योजनाओं के अनुरूप ढालकर उत्कृष्ट कलाकृति के रूप में बदल सके। मगर, जब सामने वाले का व्यक्तित्व इस तरह "चीज़" या कच्चा माल बनाये जाने से विद्रोह करता है, स्वतंत्र रूप से उगने और उठने लगता है तो "ठगे" जाने का अहसास होता है। ओंप्रकाशजी जब किताबों के बारे में ऐसे प्यार, उत्साह, लगाव और मुग्ध-भाव से बोलते थे तो मुझे अक्सर ही भीतर शक होता था कि हर कलाकार की तरह वे भी व्यक्ति को चीज़ और चीज़ को व्यक्ति की तरह देखते हैं।

ओंप्रकाश जी के लिए पुस्तकें किसी सजीव और प्राणवान व्यक्ति की तरह आच्छन्न कर लेने वाला अनुभव थीं। बेहद शिद्दत से व्यक्तियों के साथ जुड़ने के बाद जब वे उनसे निराश होते थे, या आत्मधिक्कार या शहादत की मनःस्थितियों से गुज़रते थे तो दुगने जोश से किताबों की दुनिया में लौट आते थे। वे उनकी शक्ति और शरण्य दोनों थीं। उनके स्वभाव की अधीरता ने उन्हें शायद ही किसी और ठहराव और कुंठा में रुकने दिया हो। पुस्तकें उनका स्थायी अन्तरा थीं। समानान्तर ही किसी-न-किसी से जुड़े होना, गहरे आवेश के साथ एकाकार रहना उनकी इतनी बड़ी मजबूरी थी कि वही उनकी जीवन्तता का पर्याय हो गयी थी। मैं दसियों लेखकों के नाम ले सकता हूँ जो, यदि ओंप्रकाश न होते तो वे भी शायद उस रूप में न होते। और उन दसियों लेखकों को भी

जानता हूँ जिनसे ओंप्रकाशजी की बाक़ायदा लड़ाइयाँ, पर्चेबाज़ियाँ हुई हैं। कहने की ज़रूरत नहीं कि इस दूसरे वर्ग में भी अधिकांश नाम वही हैं जो कभी पहले में थे। बल्कि मैं तो यहाँ तक नतीजा निकालूंगा कि जिस भी किसी लेखक में "आग" रही है वह दोस्ती या दुश्मनी किसी-न-किसी रूप में ओंप्रकाश जी के साथ जुड़ा रहा है बहुत स्वाभाविक था कि वे अपने पहले के "मित्रों" को यों शत्रुओं जैसा व्यवहार करते देखकर क्षुब्ध ओर डिस्गस्टेड हो जाते या बाक़ायदा लेखक या लेखक-विरोधी बन जाते और "टु हैल विद् डेम बास्टर्ड्स" का नारा लगाते हुए किसी दूसरी दिशा की तरफ़ मुड़ लेते। परास्त और हताश क्षणों में ओंप्रकाशजी ने भी प्रकाशन-कार्य को गालियाँ दी हैं और किसी दूसरे व्यवसाय में जाने की बातें सोची हैं—किसी ज्यादा मुनाफ़े वाले, साफ़-सुथरे व्यवसाय की बात।

प्रकाशन और फ़िल्म, दो ही ऐसे व्यवसाय हैं जिन्हें आप जब चाहें तभी नहीं छोड़ सकते—जिनकी मदद के लिए न बैंक हैं, न व्यतिगत आर्थिक सहयोग। जब भी छोड़ेंगे तो जो कुछ लगा हुआ है उस सारे का मोहत्याग कर ही छोड़ पायेंगे। करोड़ों की फ़िल्म को बीच में छोड़ देने का अर्थ है सारी लागत का डूब जाना। इसी तरह लाखों के प्रकाशन को छोड़ने का अर्थ है कुछ टन रद्दी और कुछ दफ़्तरी ताम-झाम। नतीजे में इन दोनों व्यवसायों में लगा हुआ व्यक्ति ज़िन्दगी-भर कुढ़ता रहता है, निकल नहीं पाता। ओंप्रकाशजी के सामने ऐसा अवसर आया था कि वे आसानी से इस लाइन को छोड़ सकते थे। "राजकमल प्रकाशन" छोड़ा था। देवराज जी ऑफ़सैट प्रेस की दिशा में चले गये...उधर दो महीने बीतते न बीतते "राधाकृष्ण प्रकाशन" के सर्कुलर आने शुरू हो गये। कहते थे, राधाकृष्ण उनके पिताजी का नाम है, मगर हम लोगों का ख़याल था कि "राजकमल" के आर०के० को बनाये रखने के लिए ही उन्होंने यह नाम लिया है। बहरहाल-साल-डेढ़ साल में ही ओंप्रकाशजी फिर अपने असली रूप में आ गये—ज़िन्दा और ज़िन्दादिल...कहते थे, प्रकाशन कुत्तेगीरी का व्यवसाय है, मगर इसका अपना सन्तोष (कम्पैन्सेशन) है। बौद्धिक, मानसिक और कलात्मक सन्तोष किसी दूसरे व्यवसाय में कहाँ है? पैसा कमाकर भी तो आदमी इसी तलाश में क्लबों, संस्थाओं, मन्दिरों में भटकता है। मुझे यह सन्तोष यहीं मिलता है। इसीलिए तो सर एलिन ने इसे "अभिजात व्यवसाय" कहा है।

शब्द उनके लिए नशा था या पैशन, वह उनकी मजबूरी था या आस्था—यह बता पाना मेरे लिए मुश्किल है। मगर सच्चाई यह है कि बिना शब्दों के ओंप्रकाश जी की कल्पना की ही नहीं जा सकती। सारी बेचैनियों, भटकनों और "छलाँगों" के बीच शब्द ही वह सुर था जो उनकी साँस-साँस में बोलता था। जिन दिनों अमृतसर में अपना कपड़े का व्यवसाय देखते थे उन दिनों भी "आज

की बात" दैनिक का सम्पादन करते थे और पिछले चालीस सालों से शब्द ही उनका ओढ़ना-बिछाना था। अच्छे-बुरे शब्द-शिल्पियों से उनका साबिका हुआ, अच्छी-बुरी किताबें आयीं, अच्छे-बुरे दिन भी देखे ही होंगे -- मगर जिस एक चीज़ से उनकी आस्था कभी डिगी नहीं वह था शब्द। चाहे वह मैग्नीफ़ाइंग शीशा लेकर "आक्सफ़ोर्ड डिक्शनरी" से एक-एक शब्द के पुरखों की खोज हो, किसी पाण्डुलिपि पर एक-एक नुक़्ते के लिए धुआँधार बहस हो, या किसी किताब के लिए फ़्लैप का मैटर हो...मैंने उन्हें हमेशा ही शब्दों से घिरे पाया। "महाभोज" में "आगज़नी" शब्द को लेकर हम लोगों में मतभेद हो गया था। उन्होंने दसियों डिक्शनरियाँ छानी थीं और अड़े थे कि अगर "ज़नी" तो हिन्दी का 'आग' न लगकर फ़ारसी का "आतिश" लगेगा। रात को एक बजे फ़ोन पर झगड़ रहे हैं कि या तो 'ज़नी' के नीचे से नुक़्ता हटाओ, या "आतिश" लगाओ। मैं भी अडिग था, अगर राहज़नी हो सकता है, मुँहज़ोर हो सकता है; और तो और बँगला में महामुश्किल हो सकता है तो 'आगज़नी' क्यों नहीं होगा? मुझे याद है, एक बार इसी तरह का झगड़ा "शैम्पू" को लेकर हुआ था। मेरा कहना था कि यह हिन्दी के "चम्पी" से निकला है तो ज़ोर से हँसे, बोले, "आगे आप कहेंगे कि वेदों में था और फ्रेंच लोग चुरा कर ले गये थे।" ख़ैर, यह समस्या तो एक डिक्शनरी ने ही हल कर डाली। मगर राकेश के "अँधेरे बंद कमरे" की भूमिका में "दरकिनार" शब्द का ग़लत प्रयोग बरसों नहीं सुलझ पाया। व्यवहार, व्यवसाय, भाषा, शब्द, उच्चारण—हर चीज़ का मानकीकरण उनकी ज़बरदस्त चिन्ता का विषय था और अपने यहाँ इन सबके न होने को वे भारतीय चरित्र के ढुल-मुलपने के साथ जोड़ते थे...।

हम मानकर चलते हैं कि हिन्दी प्रकाशक बेपढ़ा-लिखा, दुनिया से बेख़बर और सिर्फ़ पैसों पर निगाह रखने वाला कुछ लिजलिजा-सा ऐसा प्राणी होता है जो कभी किसी जगह एजेण्ट था और जगह-जगह किताबें बेचा करता था। ओंप्रकाशजी इस तसवीर को तोड़ते ही नहीं, उससे घृणा करते थे। साहित्यिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक—हर मामले में दुनिया की नवीनतम गतिविधियों से परिचित वे भाषा और साहित्य के किसी भी मसले को प्रबुद्ध कहने वाले लेखकों के मुक़ाबले अधिक समझते थे। सही है कि व्यवसाय को उन्होंने साध लिया था और वह सब-कुछ भी किया था जो इसमें होता है, मगर अपनी मूल मानसिक बनावट में वे हमेशा अत्यन्त जागरूक बुद्धिजीवी और कलाकार थे। हर चीज को बहुत बड़े धरातल पर सोचते थे और छोटी-से-छोटी बात को लेकर पर फ़ैक्शनिस्ट हो जाते थे। अपने प्रकाशन के विज्ञापनों, सूचियों और फ़्लैप-मैटर पर जितनी मेहनत करते थे, मैंने खुद को और साथी लेखकों को अपनी रचनाओं पर करते नहीं देखा। पाण्डुलिपियों पर उस तरह की मेहनत और ख़र्चा तो शायद कोई भी

भारतीय प्रकाशक नहीं करता। बड़ा—और निर्दोष—यही उनका ख़ब्त था। "देखिए, अमुक पाण्डुलिपि को मैंने उन साहब को दिखाया है—उस रचना के स्कैच या कवर-डिज़ाइन मैंने वहाँ से बनवाकर मँगाये हैं—आर्टिस्ट को वहाँ फ़लाँ मूर्ति या पेंटिंग दिखाने ले गया कि मुझे इस आधार पर डिज़ाइन चाहिए... "मेरी टायलर" की फ़ोटो और हस्ताक्षर के लिए आज ही केबुल किया है—रात को उन साहब से बातें करूँगा..." दिमाग़ में एक बात बैठ जाये तो वे उसके लिए कलकत्ता, बम्बई, लन्दन, न्यूयार्क कहीं भी जा सकते थे और कितने भी पैसे ख़र्च कर सकते थे। जाने कितने ब्लैप, छपे-छपाये कवर, पुस्तकों के फ़र्मे उन्होंने ख़र्चा बरदाश्त करके नष्ट कर दिये...उनकी ज़िन्दगी-भर की कशमकश कलाकार और व्यवसायी के बीच सन्तुलन बनाये रखने की थी।

उन दिनों तो नहीं, लेकिन अब यह सब लिखते हुए मुझे उनकी मानसिक बनावट बहुत-कुछ जवाहरलाल नेहरू जैसी लगती है। जो कुछ है उससे भयानक असंतोष और सब-कुछ को जल्दी-से-जल्दी बदल डालने की अधीर तड़प—एक स्वप्न और विज़न के अनुरूप सारी स्थिति को ढाल देने की उतावली, धीमी गति या रुकावटों को लेकर झुँझलाहट और फिर डिप्रेशन या 'भाड़ में जाये सब' के उदासीन अन्तराल। शायद यही निष्ठा और झख थी कि उस अकेले व्यक्ति ने हिन्दी-प्रकाशन के नक्शे को आमूल बदल दिया। "हिन्दी-सेवी"-नुमा जाहिलों और गद्दी लगाकर बैठे मुंशी-छाप प्रकाशक को एकदम आधुनिक रूप-रंग और मिज़ाज देने का एकमात्र श्रेय ओमजी को ही है। पाण्डुलिपियों पर परिश्रम, अधिकारियों से उनका मूल्यांकन, मुद्रण-शुद्धता और कलात्मक रूप-रंग देने से लेकर लेखकीय सम्मान, उन्हें बाक़ायदा रायल्टी या पारिश्रमिक देने का प्रारंभ, प्रकाशन-गोष्ठियाँ, विचार-चर्चाएँ और प्रचार-प्रसार—यह सब दसियों बरस सिर्फ़ उनके साथ ही जुड़ा रहा है। रचनात्मक साहित्य के वैचारिक धरातल की आधार-पत्रिका "आलोचना" हो, या सुरुचिपूर्ण साहित्य को जन-जन तक पहुँचाने के लिए "राजकमल पाकेट-बुक्स" की योजना; व्यवसाय-जगत की पत्रिका "प्रकाशन-समाचार" हो, या कथा-लेखक की आन्दोलन-केन्द्र "नई कहानियाँ"—सभी का प्रारंभ तो ओंप्रकाशजी ने किया था। बाद में तो कुछ की केवल निरन्तरता बनाये रखी गयी। सही है कि कुछ में वे सफल हुए, कुछ में असफल; कुछ के लिए वातावरण तब उतना पका नहीं था तो कुछ के लिए साधन नाकाफ़ी थे। मगर हर समय कुछ-न-कुछ नया करने का साहस, झख और पहलक़दमी, हर नयी रचनात्मकता से जुड़े होने की बेचैनी और योगदान.. बेशक 'राजकमल' उन दिनों सिर्फ़ प्रकाशन ही नहीं, एक जीवन्त संस्था और विचार-मंच था। कितने उठते हुए सशक्त लेखकों को ओंप्रकाशजी ने अपने साथ ले लिया था—रेणु, भारती, राकेश, मार्कण्डेय, कमलेश्वर, नागार्जुन, दुष्यन्त, मैं, मन्नू, उषा प्रियंवदा,

कृष्णा सोबती, कृष्ण बलदेव वैद, निर्मल वर्मा, नामवर, शिवदान सिंह चौहान—कौन-सा युवा लेखक था जो किसी-न-किसी समय "राजकमल" के साथ न रहा हो...और इस सारी गहमागहमी या रचनात्मक खलबलाहट और साहित्यिक राजनीति के केन्द्र में थे ओंप्रकाशजी—विभिन्न ईर्ष्याओं, स्पर्द्धाओं और ऊर्जाओं के बीच सन्तुलन बनाये, साधन और सहयोग के स्रोत की तरह—सब-कुछ समझते और सबका हिस्सा बन कर जीते हुए। सारी परेशानियाँ, अन्दरूनी और बाहरी तनाव और सन्तोष-असन्तोष के बावजूद वह ओंप्रकाशजी का स्वर्ण-काल था। जहाँ तक मेरी जानकारी है, शायद छायावाद काल में ऐसी साहित्यिक हलचलों का केन्द्र "भारती-भण्डार" भी नहीं बन पाया था—हालाँकि उस प्रवृत्ति की सारी रचनाएँ लगभग वहीं से आयी थीं—निराला, पंत, प्रसाद, महादेवी, भगतीचरण वर्मा, इलाचन्द्र जोशी, सभी तो थे। उधर स्वतंत्रता के बाद की सारी प्रतिभाएँ "नयी कविता" और "नई कहानियाँ" के माध्यम से जिस तरह ओंप्रकाशजी के आस-पास सिमट आयी थीं—वैसा पहले कब हुआ था? न दुलारेलाल भार्गव के ज़माने में और न ही श्री वाचस्पति पाठक के काल में।

सन् 59 में मैंने ओंप्रकाशजी को "अटलांटिक" पत्रिका का एक अंक दिया था, '58 का। उसमें एक लेख था, "दुनिया का महानतम प्रकाशन-गृह : गालीमार।" उस लेख की शुरूआत हुई थी इस पंक्ति से : "जब हिटलर ने फ्रांस पर क़ब्ज़ा किया तो दो ही अध्यादेश जारी किये थे—बैंक-डी-फ्रांस और "गालीमार" को अपने हाथ में ले लो।" आगे उसमें बताया गया था किस तरह फ्रांस के पिछले पचास वर्षों के साहित्य-संस्कृति का इतिहास केवल "गालीमार" का इतिहास है। आधे दर्जन से अधिक नोबेल-पुरस्कार-प्राप्त साहित्यकारों के यह प्रकाशक, आन्द्रे जींद, आन्द्रे मालरो, ज्याँ काक्त्यू, कामू, सार्त्र, बोउआ जैसे विश्व-प्रसिद्ध नामों से जुड़े रहे हैं। सार्त्र और कामू आपस में न बोलते हों, लेकिन जिन दो पत्रिकाओं के वे सम्पादक हैं उनके प्रकाशक हैं "गालीमार"। तय है कि जो वहाँ से नहीं छपा, उसका फ्रेंच साहित्य में स्थान संदिग्ध है। इसी उन्नसिक रवैये के कारण एक समय सारे विश्व-साहित्य में तहलका मचा देने और करोड़ों की संख्या में बिकने वाली लेखिका फ्रैंकोइस सागाँ को उन्होंने छापने से इनकार कर दिया था। मगर बहुत जल्दी ही यह स्पष्ट हो गया कि जहाँ तक साहित्यिक मूल्यों का सवाल है, "गालीमार" का फ़ैसला बहुत ग़लत नहीं था। ओंप्रकाशजी से वह लेख पढ़ने और अनुवाद करने के लिए शमशेरजी ले गये—आज भी शायद वह उनके पास हो। बहरहाल, अपने छोटे रूप में "राजकमल" भी एक-दशक हिन्दी का "गालीमार" रहा है।

व्यक्तिगत रूप से लेखकों और लेखन के बीच होना, उनके सरोकारों और

सपनों में शामिल होना, विचार और रचना के क्षेत्र में कुछ महत्वपूर्ण और विशिष्ट करने की गहरी और भीतरी आस्था ही प्रकाशन को व्यवसाय से उठा कर आन्दोलन या संस्था का रूप देती है। ओंप्रकाशजी ने शायद कभी अन्तिम रूप से इस बात को माना ही नहीं कि प्रकाशन केवल एक व्यवसाय है। वह उनके लिए हमेशा एक आन्दोलन, एक कॉज़ और मिशन भी रहा। इसे केवल व्यवसाय मानने वालों के प्रति उनके मन में कभी सम्मान नहीं रहा—चाहे वह झोला लेकर इस-उस अफ़सर को पटाने वाला छुटभैया हो, या आधुनिकतम साफ़-सामान के बीच किसी भी बिज़नेस ऐक्जीक्यूटिव जैसा अदाकार। वे उनके लिए समान रूप से छोटे और अनपढ़ लोग थे। मन, बुद्धि और आत्मा को भोजन देने वाला इस हद तक निर्वैयक्तिक, तटस्थ और शुद्ध व्यवसायी हो ही नहीं सकता। वह उन लाखों लोगों के प्रति ज़िम्मेदार है जिनसे उसने एक संवाद क़ायम कर लिया है। यहाँ प्रकाशक की ज़िम्मेदारी किसी भी जागरूक और प्रतिबद्ध सम्पादक से कम नहीं है। ओंप्रकाशजी के मन में बहुत साफ़ होता था कि पाठक नहीं, हिन्दी का लेखक ही धोखा देता रहा है। जाने कितनी बहसें और लड़ाइयाँ इस मुद्दे को लेकर हम लोगों के बीच होती रही हैं। वे कहते थे कि अगर पाठक शुद्ध सनसनी या मनबहलाव की चीज़ें चाहता है और प्रकाशक उसकी इस कमजोरी को भुनानेवाला व्यवसायी रह गया है तो इसके लिए हिन्दी-लेखक के अलावा और कोई ज़िम्मेदार है ही नहीं।

निश्चय ही एक वर्ग में उन्हें लड़ाकू, दंभी और अक्खड़ व्यक्ति के रूप में जाना जाता है। वे लड़ाइयाँ और विरोध मोल लेते थे और फिर उन्हें जिहादी की उत्तेजना और उत्साह से लम्बा खींचते थे। मगर मैं जानता हूँ, उनका यह लड़ाकूपना एक गहरी ज़िम्मेदारी और जागरूकता से आता था—क्योंकि उनका अपना एक सुनिश्चित दृष्टिकोण और व्यक्तिगत तीखी पसन्द-नापसन्द थी। मुझे यह उनके व्यक्तित्व की कमज़ोरी या स्खलन नहीं, एक ऐसी आन्तरिक शक्ति लगती है जिसके कारण असहमत होने पर वह भरी सभा में खुलकर विरोध करते थे। जिसे ख़ुद ग़लत समझते हों, उसे बरदाश्त कर सकना शायद उनके लिए असंभव था। सरकार, संस्था, व्यक्ति कोई भी हो, शायद उन्होंने ही इनके ख़िलाफ़ सबसे अधिक विरोध-पत्र लिखे हैं। सामान्य लड़ाकू व्यक्ति से जो चीज़ उन्हें अलग करती है वह यह कि ये विरोध हमेशा ही किसी-न-किसी सिद्धान्त के लिए हुए हैं। अगर हज़ारीप्रसाद द्विवेदी की पुस्तक की जगह किसी छज्जूलाल या छिदम्मीप्रसाद की किताब मान्यता, स्वीकृति पाती है तो उन्हें सचमुच तकलीफ़ होती थी। अब अगर द्विवेदीजी की किताब उन्होंने ही छाप रक्खी है तो बड़ी आसानी से इसे सिद्धान्त की बात न कहकर स्वार्थ की बात का नाम भी दिया जा सकता है। व्यावसायिक प्रतिस्पर्द्धा में—अपने या दूसरों

के, किसी अयोग्य को जब भी वरीयता मिली है तो सफलता का सन्तोष ज़रूर हुआ है मगर तकलीफ़ भी उन्हें कम नहीं हुई है। अगर सिद्धान्तों और आदर्शों की बात न होती तो अख़बारों में राजनीतिक मुद्दों पर पत्र लिखने या बहुत पहले केरल की साम्यवादी सरकार को पैसा देकर बाद में दुनिया-भर की मुसीबतें क्यों उठाते ? उनके दूसरे समझौतों और सौदों की जानकारी भी मुझे काफ़ी है, मगर फिर भी कह सकता हूँ कि उनका मूल झुकाव समाजवाद और धर्मनिरपेक्षता की ओर ही रहा। सम्प्रदायवाद के ख़िलाफ़ उनके 30 साल पुराने "आज की बात" के लेख पढ़कर मुझे उनकी इस मानसिक बनावट में कहीं दरार नहीं दिखायी देती।

लेखकों के प्रति उनके विरोध और नापसन्दगी को मैं दो हिस्सों में बाँटना चाहूँगा। सबसे अधिक नुक़्ताचीनी करते थे वे दंभी लेखकों और मूर्ख-तिकड़मी अध्यापकों की। निश्चय ही व्यापारिक सम्बन्ध और व्यावहारिक सौजन्य उनके साथ भी रहा होगा; मगर उनके प्रति भीतरी नफ़रत के विस्फोट का गवाह मैं भी रहा हूँ। विश्वविद्यालयों में घुसे बैठे घूसख़ोर अनपढ़ "विद्वानों" के क़िस्से वे बेहद वितृष्णा और जुगुप्सा से बयान करते थे—कि कैसे किताबें लगाने के लिए सौदे करते हैं, आपस में कैसी मार-काट चलती है और किस तरह दो सौ विद्यार्थियों वाली पुस्तक लगाने के बाद अध्यक्ष की प्रत्याशा होती है कि सात सौ पन्नों की अपनी या अपने किसी शिष्य—(विशेषकर शिष्या) की थीसिस प्रकाशक के मत्थे मढ़ दी जाये। अब इस निहायत कूड़ा, अपठनीय, दूसरों से चोरी की गयी, कैंची-गोंद छाप पोथी पर दस हज़ार इन्वेस्ट कीजिये और गोदाम में भर लीजिये।" "इस पैसे में मैं चार अच्छी किताबें नहीं छापूँगा कि मुझे भी सन्तोष हो ?" विश्वविद्यालयी कुर्सी के आधार पर सम्मान और प्रतिष्ठा चाहने वाले इस वर्ग ने निश्चय ही ओंप्रकाशजी को कभी बहुत पसंद नहीं किया। पसन्द इन्हें दूसरे अनेक प्रकाशक भी नहीं करते, मगर इन्हें "सँभालने" के लिए उनके पास बीच के और लोग हैं और वे सीधे इनके संपर्क में कम-से-कम ही आते हैं।

उन लेखकों से भी ओंप्रकाशजी की अधिक पटरी नहीं बैठी जिनमें अपने लेखन या पाठकों के प्रति समुचित शिष्टाचार-सौजन्य नहीं है। लेखन अगर किसी भी लेखक को संस्कृति और संस्कार देता है तो उसका यह सुसंस्कृत व्यवहार सबसे पहले पाठक के सन्दर्भ में ही सामने आता है। सामान्य बातचीत में भी, बोलने वाला, सुनने वाले के और अपने बीच एक विश्वसनीयता, संवाद और सम्प्रेषणीयता का शिष्टाचार बरतता है, उसे साथ लेने, शामिल करने और उसके भीतर से सर्वश्रेष्ठ निकालने की कला। पाठक, श्रोता और दर्शक को गालियाँ और घृणा देकर आप अपना सर्वश्रेष्ठ नहीं दे सकते। कोई भी कला,

अगर वह सामने वाले को सम्बोधित नहीं है तो उसे अपनी ही दराज और रियाज या रिहर्सल में ही बन्द रहना चाहिए। जनता के टिकट और दया-विज्ञापनों या प्रकाशक के पैसों, साधनों के बल पर दो समझदार पाठक पा लेना, लेखकीय अहंकार को सन्तोष तो दे सकता है, मगर प्रकाशक और संभावित पाठक को हमेशा के लिए खो देता है। जीवन्त साहित्य की एकमात्र कसौटी ही यह है कि वह सही पाठक को पकड़े ही नहीं, उसकी संस्कारशीलता और संख्या में भी निरन्तर अभिवृद्ध करे। हिन्दी-लेखक की इस कुंठा से ओंप्रकाशजी बेहद क्षुब्ध थे कि कम-से-कम पाठक पाकर या पाठकों से बाक़ायदा घृणा करके ही वह अपनी कलात्मक-श्रेष्ठता के अहंकार में जीता है; मगर प्रत्याशाएँ उनकी उन "बाज़ारू" लेखकों से किसी तरह कम नहीं हैं जिन्हें दिन-रात गालियाँ देता है। वे अक्सर चुनौती देते थे कि दो-चार पुराने लेखकों को छोड़कर हिन्दी के किसी लेखक के ऐसे पाठक नहीं हैं जो उसकी रचना के एक संस्करण का भी सहारा बन सकें। इस मामले में बँगला लेखक का अपने पाठक में ज्यादा विश्वास है—वे उसका नाम देखकर पत्रिका और पुस्तक ख़रीदते हैं। वे सचमुच चाहते थे कि हिन्दी का लेखक अपने पाठकों से जुड़े और सिर्फ़ हवाई महानता में ही दूसरों को अ-साहित्यिक और बाजारू न कहता रहे। सार्त्र, कामू हलके और बाजारू लेखक नहीं हैं, मगर उनके पाठकों की संख्या . वे इस बात से भी सख़्त नाराज़ थे कि हमारा लेखक अपनी समझ और अनुभव के दायरे को फैलाता क्यों नहीं है, क्यों सिर्फ़ अपने भीतर ही आत्मा में घुन की तरह सूराख़ करता रहता है।

लेखकों से उन्हें दूसरी शिकायत यह थी कि उनके मन में साहित्य या पुस्तक के लिए कोई संस्कार और सम्मान नहीं है। प्राथमिकता की उसकी सूची में पुस्तक कहीं आती ही नहीं। दो डाकुओं में भी एक-दूसरे के "किये" के लिए सम्मान होता है, शायरों या संगीतज्ञों में दूसरे के कमाल को देखकर दुश्मन को भी गले लगाने के क़िस्से सुने गये हैं। किसी लेखक को आपने कभी यह कहते सुना कि अमुक न मेरा शिष्य है, न चमचा, मगर क्या कमाल की चीज़ लिखी है? कोई लेखक अगर किसी लोकप्रिय पत्रिका का सम्पादक हो जाये तो आप निश्चय मान लीजिये कि पहली जिस चीज को वह काटेगा, वह होगी पुस्तक। बँगला, मराठी, अँग्रेजी—दुनिया की कोई भाषा ले लीजिये—वहाँ का लेखक-पत्रकार पुस्तकों को लेकर कितना सरोकार और चिन्ता महसूस करता है। कितनी मेहनत से वहाँ समीक्षा-कॉलम तैयार किये जाते हैं। हिन्दी-पत्रकार मूलतः ख़ुशामदी है, इसलिए सिर्फ़ सत्ता की आरती उतारता है। नेता, जनता का नाम लेकर और पत्रकार पाठकों की दुहाई देकर अपने मानसिक खोखलेपन या टुच्चे होने को छिपाते हैं। जो समस्या हिन्दी-पाठक की है, वही हर भारतीय भाषा की है—फिर क्यों उनके लिए पुस्तक या साहित्यिक-सांस्कृतिक हलचलें इतनी

महत्वपूर्ण हैं ? दूसरी जगहों, विशेषकर अँग्रेज़ी में प्रेस और प्रकाशन का जो सहयोग है—वह जब तक नहीं होगा, हम किताबों की बिक्री को लेकर यों ही रोते रहेंगे । आप प्रकाशक को इस बात के लिए गालियाँ तो देते हैं कि वह किताब नहीं बेचता; मगर पाठक पुस्तक के बारे में जाने, उनमें दिलचस्पी ले और उससे लगाव महसूस करे, इसके लिए क्या करते हैं ? आपके यहाँ किताब की चर्चा होगी भी तो सिर्फ़ आपसी हिसाब-किताब चुकाने के लिए होगी। पाठक को सचमुच आपने कभी किसी किताब के बारे में बताना चाहा है ? जब तक यह मानसिकता तैयार नहीं करेंगे, पुस्तकों की संस्करण संख्या बढ़ेगी ही नहीं। लेखक का सामाजिक सम्मान-प्रभाव और बुद्धिजीवी की वह स्थिति हिन्दी में कहाँ है जो और भाषाओं में है ? हम लोगों की इस शिकायत पर कि प्रकाशक घटिया और बाज़ारू लेखकों का जितना प्रचार-प्रसार करता है उतना अच्छे लेखकों का नहीं; उन्होंने दो-एक लेखकों के उसी ढँग से विज्ञापन किये; मगर शिकायत यही बनी रही कि जब आपको ही अपने लिखे में दिलचस्पी और आस्था नहीं है तो हम लोग अकेले क्या करेंगे ? अनपढ़, ग़रीब और हीनताग्रस्त देश के दल-दल से जब तक लेखक-प्रकाशक-प्रेस—तीनों मिलकर इस गाड़ी को नहीं निकालेंगे तब तक इसी तरह एक-दूसरे को गालियाँ देते रहेंगे।

जैसा कि मैंने कहा, अपने व्यवहार और विचारों से उन्होंने जितने लेखकों को नाराज़ किया, शायद ही किसी ने किया हो। "अमुक लेखक कुंठावादी और व्यक्ति-केन्द्रित है, नहीं छापेंगे।" "यह किताब अश्लील और साम्प्रदायिक है—"राजकमल" से नहीं बिकेगी।" "यह अध्यक्ष स्वार्थी और घूस-ख़ोर है, मेरा उससे कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा।" वे डिग्निटी और गरिमा के साथ प्रकाशन करना चाहते थे और यह भी सही है कि इसे लेकर उन्होंने समझौते न किये हों, ऐसा नहीं है। "सच कहता हूँ, यादवजी, ज़िन्दा रहने और प्रकाशन चलाने के लिए करना तो बहुत कुछ पड़ता है, मगर मन कितना घिनाता है, इसे आप आज ज़रूर महसूस कर सकते हैं।"

बेहद ही मस्तमौला और शौक़ीन आदमी थे, ओंप्रकाशजी। अच्छे कपड़े, अच्छा रहन-सहन, खाना-पीना उनकी कमज़ोरी थी। पन्द्रह-बीस सालों में मुझे तो कोई समय याद नहीं आता जब महीने में दो-चार बड़ी पार्टियाँ न कर डालते हों—पाँच-सात से लेकर बीस-बीस लोगों की—बढ़िया शराब, अच्छे-से-अच्छे रेस्तराँ का सामिष भोजन, हरेक का व्यक्तिगत ख़याल। कभी संगीत, कभी शायरी, कभी होली की भाँग, तो कभी दीवाली के ताश। हमेशा जैसे पार्टियों के लिए बहाना तलाश करते हों। कभी नाटक वालों के साथ, तो कभी लेखकों-कवियों के, कभी गुलज़ार जैसे फ़िल्म वाले, तो कभी शामलाल जैसे पत्रकार, कभी व्यवसाय के लोग, तो कभी और मित्र। वह ख़ुलापन और मेहमान-नवाज़ी ..

खुशी देने और आनन्द बटोरने का वह उत्साह सब मिलाकर शब्द और शब्द-शिल्पियों के साथ अधिक-से-अधिक समय बिताने का मोह। आर्यसमाजी यज्ञों और गुरुकुल की पृष्ठभूमि के साथ यह सब नहीं जाता न...मगर उगी निषेध और अस्वीकार के ख़िलाफ़ तो वे ज़िन्दगी-भर लड़ते रहे—एक संस्था के रूप में, एक सहयोगी प्रयास की तरह और यारों के यार बनकर...।

अजीब अन्दाज़ था उनकी दोस्ती का। मालूम नहीं, कहाँ क्या होता था कि वह अचानक ही दोस्त से अधिक बड़े भाई हो जाते थे। जितने साहित्यिक झमेलों में वे कहीं-न-कहीं उलझे रहे हैं, शायद ही कोई प्रकाशक रहा हो। कमेलश्वर-देशी प्रसंग है तो ओमजी वहाँ हैं, रेणु और लतिकाजी का कोई आपसी तनाव है, या उन्हें नये उपन्यास की तैयारी करनी है और ओमजी हर समय आस-पास सुलभ हैं, पुष्पा ने राकेश का जीना मुहाल कर दिया है, या अनिता का कोई सिल-सिला है तो सारी तवालतें उठाये ओमजी टैक्सियों में भाग-दौड़ कर रहे हैं, दुनिया-भर के फ़ोन खटखटा रहे हैं, आधी रात को मौजूद हैं; "एकदम चलना है ", मुझे दिल्ली जाना है, या मन्नू को यहाँ नौकरी चाहिए और ओंप्रकाशजी दुनिया-भर के लोगों से मिल रहे हैं, हम लोग उनके घर आकर टिके हैं, सामान और किताबें "राजकमल" में मँगा लिये गये हैं, कृष्णचन्द्र-सलमा प्रकरण है और ओमजी उनके रहने-छिपाने का इन्तज़ाम कर रहे हैं—जाने कितने क़िस्से हैं; जाने कितने झगड़े, लड़ाइयाँ, बहसें और नाटक वहाँ नहीं हुए हैं ? ओमजी बीच-बचाव या सफ़ाई पेश करते हैं, "भाई मेरे, तुम यह क्यों नहीं सोचते...।" राकेश को "अँधेरे बंद कमरे" लिखना है तो टाइप-काग़ज़ कटवा कर भिजवाने से लेकर रात-रात-भर उसे दिल्ली रात की बाँहों में दिखा रहे हैं—एयरकण्डीशन ठीक करा रहे हैं। मैं कसौली गया हूँ और राकेश को लेकर एक दिन ओमजी वहाँ, "सोचा, चलो तफ़रीह करेंगे। बहुत उपन्यास लिख लिया होगा—अब बाधा डाली जाये ।"मेरी शादी का रिसेप्शन है कलकत्ता में। संयोग से वे नगर में हैं। देखा, तो बाँहें खोले चले आ रहे हैं, "बधाइयाँ !"

उन्हें मैंने हमेशा दूसरों में ही इतना उलझे पाया कि कभी जान ही नहीं सका, उनकी अपनी भी कोई समस्याएँ हैं। आज आश्चर्य ही होता है कि मेरे या दूसरे साथी लेखकों की छोटी-से-छोटी बातें जानने के बावजूद उन्होंने कभी हम लोगों को पता नहीं लगने दिया कि उनकी व्यक्तिगत या पारिवारिक स्थिति क्या है ? उन्होंने कभी किसी घरेलू बात का ज़िक्र नहीं किया। जब-जब हम उनसे मिले, या उनके पास गये तो अपनी बात को लेकर ही इतने आक्रांत थे कि इधर-उधर देखने की फ़ुरसत ही नहीं मिली। इसके सिवा हम कुछ भी नहीं जानते थे कि वे अपने परिवार और घर के मालिक थे, एक सामान्य सुख-सुविधा और सुरुचि से सम्पन्न उच्च मध्यवर्गीय सन्तुलित और सहयोगी परिवार

था, उन्हें नयी-से-नयी कलात्मक चीज़ें लाकर घर में सजाने का शौक़ था। इससे अधिक जानकारी सिर्फ़ इतनी ही कि उनकी हर भौतिक और सांसारिक ज़रूरत को पूरी करने वाली भाभीजी हैं और उनकी हर अमूर्त या व्यावसायिक सनक और दिमाग़ी फ़ितूर का हमख़याल बेटा है। अन्दर कितना थे, मैं नहीं जानता, मगर हलका-सा परेशान पाया था मैंने उन्हें तब जब अरविन्द भारत नहीं आ रहा था, या वहीं उसने अपना जीवन-साथी चुन लिया था। विनीता और अरविन्द को लेकर भावुकता के दो-चार क्षण भी शायद देख लिये हों। अक्सर मुझे समझाते, "अब उस झगड़े को ख़त्म करो। यादवजी, बातों को मन में नहीं रखना चाहए...।" मगर ख़ुद वह "राजकमल" को शायद ही कभी मन से छोड़ पाये हों..।

ऐसा नहीं है कि उनके इन गुणों, "महानताओं" और अवदानों की पहचान के लिए मैं अपने अनेक साथियों की तरह उनके मरने की राह देखता रहा हूँ। उनके जीवन-काल में भी मेरी दो आकांक्षाएँ रही हैं : एक तो सर ऐलेन की आत्मकथा "ए प्रौफ़ैशन फ़ोर ए जैण्टलमैन" जैसी अपनी बेबाक़ और ईमानदार आत्मकथा वे भी लिखें, दूसरे उन्हें लेकर मैं साहित्य और प्रकाशन की व्यावहारिक समस्याओं पर पुस्तक सम्पादित करूँ—"अरे छोड़ो-छोड़ो, कोई और बात करो.।" बात को टालने का उनका अपना तरीक़ा था। शायद उन्हें सचमुच विश्वास नहीं था कि उन्होंने ऐसा कुछ विशिष्ट और अद्वितीय किया है कि मुझ जैसा तथाकथित लेखक, बिना किसी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष स्वार्थ या ज़रूरत के यह बात सोचेगा। इस बात पर ख़ुद विश्वास नहीं करना चाहते थे और अपने या दूसरों से लड़ते थे, मगर कहीं मानने भी लगे थे कि गुण अपने-आप में कभी मान्यता नहीं पाता, जब तक कि मानने वाला उसमें अपना कोई काँटा या उपयोगिता नहीं फ़िट कर लेता। यह अनकही शिकायत भी कहीं-न-कहीं रही ही होगी कि कम-से-कम लेखकों को तो उनके प्रयासों की ईमानदारी या संघर्षों को समझना चाहिए आख़िर वे सहयोगी और सक्रिय सहयात्री की तरह उनकी ही तो लड़ाइयाँ लड़ रहे थे, उन्हीं प्रश्नों और समस्याओं से जूझ रहे थे जो भारत-जैसे ग़रीब, अशिक्षित और विकासशील देश में हर जागरूक बुद्धिजीवी को कुंठित और अवरुद्ध करती हैं; वे हम ही लोगों के तो हाथ और पाँव बन कर जिये थे। और इसी दृष्टि से ऐसा ही एक लेख मैं उनकी वर्षगाँठ पर लिखना चाहता था। भारती को मैंने "धर्मयुग" के लिए लिखने की इच्छा ज़ाहिर करते हुए 14 मई, '75 को लिखा था, "मैं सचमुच महसूस करता हूँ कि अपनी सारी सीमाओं के बावजूद प्रकाशन के क्षेत्र में ओमजी ही एक ऐसे व्यक्ति रहे हैं जो स्वतंत्रता के बाद आने वाली पीढ़ी के लेखन से जैनुइनली इन्वॉल्वड रहे। लड़ाइयाँ, मतभेद और पक्षधरताएँ जिस समय होती हैं तब भले ही कोई व्यक्ति

स्वार्थपरता, टुच्चेपन और किसी और मन्तव्यों का अहसास दिलाता हो. लेकिन बाद में जब लम्बे पर्स्पेक्टिव में देखते हैं तो वह सब जीवन्त होने की प्रक्रिया का ही एक अंग लगता है। वैसे आज भी मैं कह सकता हूँ कि ओंप्रकाशजी न मेरे बहुत घनिष्ठ रहे हैं, न कभी खुलकर लड़ाई हुई है। बल्कि शिकायत हमेशा यही रही हैं कि राकेश के प्रति उनका पक्षपात अधिक था। फिर भी जब 25 वर्षों के इतिहास को देखता हूँ तो व्यक्ति के कंट्रीब्यूशन से इनकार नहीं कर सकता। बल्कि मैं तो यही कहूँगा कि अगर ठीक समझो तो इस अवसर पर उनके ऊपर एक लेख "धर्मयुग" में दो। हम लोग किसी के मर जाने पर बहुत छाती-माथा कूटते हैं. लेकिन उसके जीवित रहने के अपराध को कभी क्षमा नहीं कर पाते। आशा है इसे तुम मेरी भावुकता नहीं समझोगे ।"

मगर जैसी उम्मीद थी, भारती ने बात टाल दी। उन दिनों संजय और कमलापति त्रिपाठी की प्रशस्तियाँ उन्हें अधिक महत्वपूर्ण लग रही थीं और वहीं सूरज के अंश दिखायी देते थे। चूँकि उनकी योजनाओं में ओंप्रकाशजी कहीं नहीं आते थे, इसलिए भारती क्यों उनके जन्मदिन पर लेख छापते ? आख़िर वे जयप्रकाश या लालबहादुर शास्त्री तो नहीं ही थे। साहित्य के प्रकाशक की इतनी उपयोगिता पत्रकार की निगाह में कहाँ है ? हाँ, जब उन्होंने भारती से इलाहाबादी दिनों में उन्हें और उनके दल को "आलोचना" देकर और "नयी कविता" का वितरण करके मसूरी के पहाड़ तक ऊँचा उठा दिया, तब वे ज़रूर समझदार और जागरूक आदमी थे (मसूरी की ही तो "माया" थी कि वहाँ आराम करने जाकर "बाइ द वे" "धर्मयुग" की भी ज़िम्मेदारी आ पड़ी)। इसके बाद तो ओंप्रकाशजी पंतजी ऐसे निरीह और प्रगतिशीलों जैसे 'खूँख़ार' लोगों के "चक्कर" में पड़ गये। बहरहाल, इतना तो श्रद्धांजलि देते हुए भारती ने मान ही लिया है कि "नयी कविता" का वितरण करके ओंप्रकाशजी ने बहुत काम किया ("नई कहानी", "आलोचना" और "प्रकाशन-समाचार" तो किसी और ने निकाले थे)।

और यह भी सच ही है कि प्रगतिशीलों के चक्कर में तो ओंप्रकाशजी थे ही। साम्प्रदायिक, हवाई, व्यक्तिवादी, शोषण और मानव-द्रोह समर्थक कवि-लेखकों को ओंप्रकाशजी का शायद ही कभी मुक्त समर्थन मिला हो। हालाँकि "राधाकृष्ण" के दिनों में उन्हें बरदाश्त ज़रूर करने लगे थे। प्रकाशकीय सम्बन्धों और व्यक्तिगत घनिष्ठता के बावजूद निर्मल के साम्यवाद-विरोधी विचारों, अमूर्त रहस्यवादी सोच और तरल अस्पष्ट भाषा का वे उनसे ही खुलकर विरोध करते रहे थे। मगर निर्मल 'संवेदनशील' कथाकार और संस्कार से कलाकार हैं, इसलिए वे ओंप्रकाशजी के संघर्ष और तड़प को ज़्यादा गहराई से समझते हैं।

ओंप्रकाशजी से मेरे सम्पर्क की शुरुआत कुछ विशेष पूर्वाग्रहों के साथ ही

हुई थी। "प्रेत बोलते हैं" (अब "सारा आकाश") के कारण मेरे सम्बन्ध "प्रगति प्रकाशन" से बन चुके थे। बलवन्त सहगल और प्राणनाथ नागपाल दोनों ही सुरुचि, सपने और उत्साह लेकर प्रकाशन में आये थे। तबीयत और साधनों दोनों से जवाब थे और एक-से-एक बड़े नामवाली किताबें छापकर हिन्दी में तहलक़ा मचा चुके थे। उन्होंने अनुबन्ध किया कि आगे मैं जो भी लिखूंगा वह वहाँ से छपेगा और वे प्रतिमास दो सौ रुपये दिया करेंगे। "सारा आकाश" पर भी दो सौ रुपये दिये थे। राकेश से भी ऐसा ही अनुबन्ध हुआ था। राकेश से मेरा परिचय हो चुका था नया-नया। वह शीलाजी के पास आगरा आया था। हम दोनों ही इस अनुबन्ध से सातवें आसमान पर थे। उन दिनों अच्छे-ख़ासे लेक्चरर को भी डेढ़ से लेकर ढाईसौ ही मिलता था। राकेश मुझे "राजकमल" ले गया। "राजकमल" का हमारे लिए काफ़ी आतंक था। आगरा में कमलेशजी वहाँ की बहुत बातें करते थे। उन्होंने शायद के० एम० मुंशी के उपन्यासों के अनुवाद किये थे और लीलावती जी के माध्यम से वहाँ परिचित हुए थे। मैं नया लेखक था। बड़े प्रकाशकों से परिचय होना मेरे लिए ज़रूरी भी था और गौरव की बात भी थी। प्रकाशन के नाम पर मैंने चौकी लगाकर बैठे भोलानाथजी (विनोद पुस्तक मन्दिर) या अपनी पहली पुस्तक के प्रकाशक "राजेन्द्र प्रकाशन" के मालिक सेठ रतनलाल को गद्दी पर गाव-तकिये के सहारे अधलेटे देखा था। "साहित्य-रत्न-भण्डार" कुछ आधुनिक था, मगर महेन्द्रजी नेता अधिक थे। दिल्ली में बाक़ायदा अच्छी मेज़-कुर्सियों और दफ़्तरी व्यस्तताओं वाले आधुनिक प्रकाशन देखना मेरा पहला अनुभव था।

दरियागंज में पीछे गली की ओर एक सीढ़ी के दोनों ओर दो छोटे-छोटे ऑफ़िस थे, और बायीं ओर जिन श्वेतकेशी आत्मीय सज्जन से राकेश ने मिलवाया, वे देवराजजी थे। अब से काफ़ी हलके। उसी दिन से मेरे मन में यह बैठ गया कि शायद देवराजजी के बाल कभी काले रहे ही नहीं। राकेश का परिचय पहले से था। यों भी ऐसे मौक़ों पर वह "असी-तुसी" बोलने लगता था। मैं संकोची था और यहाँ तो अकेला भी पड़ गया था। देवराजजी के चेहरे और व्यवहार में कुछ ऐसा अपनापन और आश्वस्तिदायक मिला कि "राजकमल" के अपने पूरे सम्बन्ध के दौरान मुझे यही लगता रहा कि मैं देवराजजी के अधिक निकट हूँ और ओंप्रकाश जी का स्पष्ट पक्षपात राकेश के लिए है। ख़ैर, देवजी ने हम दोनों को दूसरी तरफ़ ले जाकर ओमजी से मिलाया। औपचारिक-सा परिचय था। एकाध बात पर कमलेश जी और डॉ० रामविलास शर्मा की चर्चा हुई होगी। "प्रगति प्रकाशन" के सम्बन्ध की बात पर शायद उन्होंने कहा था कि "नये लोग हैं। बहुत फ़ास्ट चल रहे हैं—वात्स्यायन जैसे सलाहकार मिल गये हैं।" मैं बैठा किताबें देखता रहा और राकेश वही "असी-तुसी" करता रहा। पंजाबी

उन दिनों मेरे लिए एकदम अपरिचित भाषा थी (तव तक मैंने पाकिस्तान में लिखा जोश मलीहावादी का वह प्रसिद्ध वाक्य भी नहीं पढ़ा था, "मैं सोचता हूँ कि उम्र के अन्त में पंजावी अव सीख ही ली जाये। आख़िर दोज़ख़ की राष्ट्रभाषा भी तो यही है।)। उधर ओमजी और राकेश दोनों अमृतसर के पुराने और पड़ोसी मुहल्लों के रहने वाले थे। राकेश उनसे नयी किताव की वात कर रहा था, शायद कहानी-संग्रह की। मुझे अजीव भी लगा कि अभी तो प्रगतिवालों से सारी कितावों की वात करके आया है। वहरहाल, मेरे मन में यह गाँठ उसी दिन वैठ गयी कि मुझे राकेश के मुक़ावले यहाँ तरजीह नहीं मिलेगी। हालाँकि तव तक मेरी दो कितावें आ चुकी थीं। "प्रेत वोलते हैं" और राकेश का "इन्सान के खण्डहर" आने वाले थे। मगर निश्चय ही राकेश मुझसे लाख गुना अच्छा पी० आर० ओ० था। व्यवहारकुशल तो वह था ही।

यह ज़माना वह था जव पंजावियों के लिए "वेचारे शरणार्थी" का भाव जाने कव का ख़त्म हो चुका था। सामाजिक और ख़ास तौर पर व्यावसायिक जीवन में वे जिस आक्रामक ढँग से छा गये थे, उसे लेकर उत्तर-प्रदेश के लोगों में प्रति-रोध और आक्रोश ही अधिक था। कोई भी काम, ख़ास तौर से हाथ से काम करने को नीची निगाहों से देखने वाला आलसी, ढोंगी और निष्क्रिय उत्तरप्रदेशीय मध्यमवर्ग वौखलाया हुआ था। वे स्वस्थ, सुन्दर, मेहनती, वेधड़क और कर्मठ थे और एक वड़ा चुनौती-भरा समानान्तर सामने रख रहे थे। इसलिए हम लोग उनकी व्यावसायिक और दूसरी नैतिकताओं के पहले से उन पर आक्षेप करते थे। लगभग सारे ही व्यवसाय और व्यापार को उन्होंने हथिया लिया था। हिन्दी-प्रकाशन पर भी वे ही छाये हुए थे। "राजकमल", "आत्माराम", "राजपाल", "प्रगति प्रकाशन" इत्यादि ने हिन्दी-प्रकाशन का सारा हुलिया ही वदल डाला था। मैं भी अपने प्रांत की उसी कुण्ठा का शिकार था कि इन लोगों से अपनी पुस्तकों का कुछ हिसाव-किताव वैठाना है तो "असी-तुसी" होना ज़रूरी है। उन्हीं दिनों एक वार सुना भी, मोहन चोपड़ा का कोई उपन्यास था और वेहद ही कच्चा था, इस पर "आत्माराम" के श्री रामलाल पुरी ने कहा, "चलने दे यार, छाप डाल। पंजावी मुंडा है।" वहरहाल, राकेश से मेरे सम्वन्ध वहुत आत्मीय हो चुके थे; लेकिन उसी के कारण मेरे और ओमजी के सम्वन्धों में एक गाँठ वनी रही। या यह भी हो सकता है कि पहली मुलाक़ात में ही "प्रगति" वालों से मेरी यह वात हो गयी और इसलिए राकेश जान-वूझकर यह दिखा रहा था कि वह इन सव लोगों के कितना निकट है।

"प्रगति प्रकाशन" विखर चुका था और "प्रेत वोलते हैं" छपकर प्रेस से वाहर ही नहीं आया। इधर मैंने "उखड़े हुए लोग" तैयार कर लिया था। मैं चाहता था कि वह किसी वहुत अच्छी जगह से आये। "भारती भण्डार" से असमर्थता

आ गयी थी, हालाँकि पाठकजी को उपन्यास पसन्द आया था। उन्होंने ओंप्रकाशजी का नाम सुझाया—मेरा भी कमलेशजी से यह आग्रह था कि जैसे भी हो उसे "राजकमल" से आना चाहिए। उन्हीं दिनों "नेशनल" के मलिक साहव से भी मिला था, शायद क्षेमचन्द्र 'सुमन' के कहने पर। मेरे सुझाव पर "ज्ञानपीठ" में राकेश के कहानी-संग्रह "नये वादल" की बात तय हो गयी थी और वह वदले में कुछ करना चाहता था। उसने ओंप्रकाशजी से सिफ़ारिश करने का आश्वासन दिया। वाद में वताया कि कहते हैं, वहुत बड़ा है। राकेश अक्सर ही दिल्ली आया करता था। उसने उपन्यास पढ़ लिया था और वेहद ही तारीफ़ का पत्र लिखा था। आज मुझे लगता है कि उसे भीतर से तकलीफ़ भी थी। ख़ुद तो वह शिमला-जालंधर की नौकरियों और आगरा में शीलाजी को लेकर परेशान था; और कुछ लिख नहीं पाता था। हाँ, मुझे "लिक्खाड़" कह कर छेड़ता, या वाक़ायदा गंभीर भाव से सिद्धान्त वघारता कि नये और प्रतिभाशाली लेखक को वहुत सोच-समझ कर और वहुत कम लिखना चाहिए।" ख़ैर, ओंप्रकाशजी से अनेक वार वातें हुईं और टूट गयीं। मैं कलकत्ता चला गया। "हिन्दी-प्रचारक" और "आत्माराम" दोनों से वातें नहीं वनीं। ओंप्रकाशजी किसी काम से कलकत्ता आये थे। कृष्णाचार्य जी ने मुलाक़ात करायी, वह पहला मौक़ा था कि विना राकेश को वीच में डाले मैंने उनसे अपनी रचनाओं के प्रकाशन को लेकर सीधे वात की। वोले, "मुझे मालूम है। राकेशजी और पाठकजी दोनों उसकी वहुत तारीफ़ कर रहे थे। लेकिन एक तो इतना वड़ा उपन्यास, फिर आपकी कहानी-संग्रह वाली शर्त—एडवान्स की राशि। पहले कमिण्टमैण्टों के कारण हम इसे नहीं ले पायेंगे। हमारा अपना प्रेस वहुत व्यस्त है। मैं ख़ुद अपने उपन्यास वनारस से छपा रहा हूँ।" फिर पता नहीं कैसे, वात इस पर आ गयी कि "आप एक काम कीजिये, दोनों यहाँ छपा लीजिये और विल हमारे पास भेज दीजिये।" यही वाद में हुआ भी। मैं आज भी विश्वासपूर्वक नहीं कह सकता कि दिक़्क़त वास्तविक थी या दोनों कितावें छप जाने तक वे इस वात को दिल्ली (या राकेश ?) से दूर रखना चाहते थे। सचाई जो भी हो, पुस्तकें छप जाने के वाद राकेश ने इस सारी घटना का जो रूप सामने रखा, उससे मेरे मन में आया कि कैसे हैं ओंप्रकाश जी ? उन्होंने सारी वात शायद मेरे ऊपर डाल दी थी। मैं इस वात से इतना खिन्न हो गया कि दूसरे संस्करण के लिए जव उन्होंने वताया कि कुछ देर लगेगी तो मैंने उसे "साहित्य-सदन", देहरादून को दे दिया। राकेश की भी सलाह यही थी कि जव ओमजी तुम्हारी कितावों में दिलचस्पी ही नहीं लेते तो वहाँ डाले रखने से क्या फ़ायदा .. उनके दिमाग़ पर तो वस रेणु सवार है .. और रेणु से ओंप्रकाशजी को "वचाने" में राकेश को समय लगा। मैं कलकत्ता था और राकेश ने मुझे यह विश्वास दिला दिया था कि इधर मेरा जो

भी काम होगा वह ज़रूर कराने की कोशिश करेगा, दिल्ली इत्यादि तो आया ही करता है। जाने क्यों मुझे विश्वास हो गया था कि किसी भी बात की पेशकश करने, या बातचीत को कुशलतापूर्वक एक नतीजे तक पहुँचाने के मामले में मैं एकदम मूर्ख हूँ और राकेश ज्यादा समझदार और सफल है। मैं कलकत्ते से जब इलाहाबाद होता हुआ दिल्ली आता तो अश्कजी, मार्कण्डेय या दूसरे मित्र छेड़ते भी थे, मगर मुझे भी यह समझने में वक़्त लगा कि राकेश की यह कला सिर्फ़ अपने ही हित के लिए थी, अपने किसी भी "एकमात्र दोस्त" के लिए नहीं।

फिर "राजकमल" में कुछ हुआ और ओंप्रकाशजी इलाहाबाद आ गये। आज जहाँ "लोकभारती" है, वहाँ ठाठ-बाट से "राजकमल" खुला। ओंप्रकाशजी वहाँ के बादशाह थे। पूरे ज़ोम में थे और बनारस, पटना, कलकत्ता एक किये हुए थे—चारों तरफ़ गति और एक्शन। साहित्य में भयानक गहमागहमी के दिन थे। "परिमल" और "प्रगतिशील" दोनों ही ख़ेमे प्रतिस्पर्द्धाओं और रचनात्मक होड़ में एक-दूसरे को चित्त करने में लगे थे, कौन "राजकमल" को अपने साथ ले ले? अँग्रेज़ी और हिन्दी की सेक्रेटेरियों वाले ओंप्रकाशजी से सीधे मिल पाना किसी मिनिस्टर थे मिलने से कम नहीं था। हँसकर कहते थे, "मुझे यू० पी० के भैया लोगों की आदतें पड़ती जा रही हैं; पान अच्छा लगता है, भाँग को मना नहीं करता, और मालिश करके नहाने या दोपहर को सोने में बड़ा मज़ा आता है।"

नये लेखकों के साथ होने, उन्हें प्रोत्साहन और वातावरण देने का क्या उत्साह था उन दिनों ओंप्रकाशजी में! रेणु को उन्होंने इलाहाबाद बुला लिया था और उसकी सारी व्यवस्था "राजकमल" ने की थी। सारी गतिविधियों और आन्दोलनों के केन्द्र थे, ओंप्रकाशजी। कमलेश्वर भी उन दिनों 'राजकमल' में था और राकेश के मुक़ाबले निश्चय ही ज्यादा सिंसियर था। मेरे भी सम्बन्ध अब सीधे उन्हीं से बन रहे थे कि देशी को लेकर कमलेश्वर और ओंप्रकाशजी की ठन गयी। लड़ाई अश्कजी और कमलेश्वर के बीच थी, और देशी "किताब-महल" से "राजकमल" आयी थी। फिर दोनों ने "राजकमल" छोड़ दिया और मिलकर "श्रमजीवी प्रकाशन" शुरू कर दिया। स्वाभाविक था कि मैं प्रकाशक के साथ नहीं, अपने लेखक-मित्र के साथ था। जिन दो किताबों की बात ओमजी से हो चुकी थीं, वे मैंने कमलेश्वर को दे दीं—"कुलटा" और मन्नू की कहानियाँ। दोस्ती का दावा कमलेश्वर से राकेश भी करता था, मगर उसने न तो कोई किताब दी, न ओमजी से सम्बन्धों में अन्तर आने दिया। इस मामले में उसमें आश्चर्यजनक व्यवहारकुशलता थी। बाद में जवाहर चौधरी से "जीवन-मरण की मैत्री" के बावजूद उसने "शब्दकार" को किताब कोई नहीं दी।

मैंने और राकेश ने साथ ही निर्णय लिया और हम दोनों 58-59 में दिल्ली आकर रहने लगे—वह देवनगर में, मैं करोलबाग़ में। साहित्य के दो केन्द्र, कॉफ़ी-

हाउस और "राजकमल"। ओमजी और मेरे सम्बन्ध वही छेड़-छाड़, तंज़ और प्रेम-घृणा के बने रहे। मिलना-जुलना, खाना-पीना सभी था, मगर मेरी किताबें "राजपाल" और "ज्ञानपीठ" से ही आ रही थीं। हाँ, उन्हीं दिनों मैंने "सारा आकाश" उन्हें दिया—नयी किताबों के अनुबन्ध किये और फिर कलकत्ता चला आया। वहाँ उन्होंने कामू के "आउट-साइडर" का अनुवाद कराया और "अजनबी" उन्हें बेहद पसन्द भी आया। मूल्यांकन के लिए वह लगातार पाण्डुलिपियाँ भेजा करते थे। हो सकता है, मेरी "क्षमताओं" की उनके मन में इज्ज़त हो, मगर वह उन्मुक्त आत्मीयता हम लोगों में नहीं ही थी जो राकेश के साथ थी। आज यह बात मेरे सामने ज़्यादा साफ़ है कि राकेश की सारी बारीकियों के बावजूद वे कहीं-न-कहीं सम्बन्ध बनाये रखना चाहते थे। बाद में वह माध्यम मिला, मन्नू। उन्होंने "नई कहानियाँ" का वार्षिकांक मन्नू से ही सम्पादित कराया और इसके लिए ख़ुद कलकत्ता आये। मैं आगरा के आस-पास ही रहना चाहता था। मन्नू को दिल्ली लाकर जमाने का सारा श्रेय ओंप्रकाशजी को ही है। मन्नू से शायद राकेश को भी कोई "ख़तरा" नहीं था। वह उसकी राजनीति में फ़िट बैठती थी। लेखन-क्षेत्र में मुझसे राजनीतिक सम्बन्ध रखकर भी व्यक्तिगत और पारिवारिक मित्रता बनाये रखी जा सकती थी। वैसे भी यह मुझे निहायत घटियापन लगता है कि आज आपकी लड़ाई हुई और अगले दिन आपने पाया कि "भाभी और भतीजे" आपको पहचानते भी नहीं हैं, या परसों फिर "नमस्ते अंकल" होने लगा।

बहरहाल, "नई कहानियाँ" से लेकर "राजकमल" छोड़ने तक राकेश-कमलेश्वर के साथ-साथ ओंप्रकाश जी के साथ खाना-पीना, घूमना-लड़ना सभी कुछ होता रहा, मगर सम्बन्ध वही खिंचे-खिंचे बने रहे। हम दोनों जानते थे कि बीच में कहीं राकेश ही है, इशारों से इसे मानते भी थे। हिन्दी लिखने को लेकर राकेश के मन में एक ख़ास तरह की आत्मविश्वासहीनता थी और जब वह लिखते या टाइप करते समय हर बार कोश खींच कर देखने लगता तो मैं हमेशा छेड़ता, "राहुलजी ने कहा है कि मातृभाषा उसे कहते हैं जिसे आप चाहकर भी ग़लत नहीं लिख पाते। सिर्फ़ उसके स्वरूप और शैलियाँ विकसित करते हैं। यानी सब मिलाकर उसे समृद्ध करते हैं। तू कोश में क्या देखा करता है?" बात सही हो या नहीं, मगर यह तो तथ्य ही है कि राकेश से घनिष्ठ होने के बाद वे सारे लेखक ओंप्रकाशजी की बाहरी परिधि में आ गये थे जिन्हें उन्होंने इलाहाबाद में अपने साथ जोड़ा था—कमलेश्वर की तो कोई किताब भी राजकमल से शायद नहीं छपी। राकेश, मेरे और ओंप्रकाशजी के सम्बन्धों को सिर्फ़ अपने ही माध्यम से, उन पर दबाव डालने या अपनी बात मनवाने के लिए ही रखना चाहता था। विरोध की भाषा होती थी, "ओमजी, शिवदानसिंह चौहान पर

"अत्याचार" कर रहे हैं, हम लोगों को एकदम असहयोग कर देना चाहिए,", "ओमजी, भैरव पर दवाव डाल रहे हैं, कि किसी इनकम-टैक्स के आदमी की कहानी छापें, अब हमसे भी कोई नयी कहानियाँ में नहीं लिखेगा।" मगर जब सुषमा धवन या देवराज उपाध्याय की उपन्यास-समीक्षा पुस्तकों या "आलोचना" के विशेषांक में "अँधेरे वंद कमरे" का ज़िक्र शामिल करा लिया गया तो सारा "अत्याचार" समाप्त हो गया; "नई कहानियाँ" में हाशिए पर जगह मिल गयी तो असहयोग वापस। "ओमजी हिन्दी के मौलिक लेखक की इज़्ज़त नहीं करते और उर्दू वालों को वहुत उछाल रहे हैं" का मतलव था, राकेश के नाम की सवसे ऊपर पब्लिसिटी।

वैसे ओंप्रकाशजी वेहद ही स्वच्छन्द और ज़िद्दी व्यक्ति थे और आवेश के किसी भी क्षण में कोई भी निर्णय ले सकते थे। "यह कीजिये, वर्ना.." कह कर उनसे कोई काम शायद ही कराया जा सके। मगर राकेश उनके मनोविज्ञान को हम सवसे ज्यादा समझता था। "नयी प्रतिभाओं को भरसक सहयोग-सहायता देना और मेधावी समर्थ लेखकों को साथ रखना"—ओंप्रकाशजी के इस गुण को राकेश ने बेहद सफलता और कौशल से अपनी सेवा में लगा लिया था। जहाँ ज़रा भी "ख़तरा" लगा, वहीं दवाव, प्रभाव और भावुकता के दाँव-पेंच. मैं जानता हूँ अगर ओंप्रकाशजी का साथ न होता तो न उसे संगीत-नाटक अकादमी का पुरस्कार मिलता, न "सारिका" की सम्पादकी और न नेहरू फ़ैलोशिप। शायद अनिता का साथ हो पाना भी मुश्किल होता तन-मन-धन, सबसे उन्होंने राकेश को संरक्षण और सहयोग दिया था, उसकी सारी लड़ाइयाँ उन्होंने लड़ी थीं। आज किसी गुण्डे से राकेश की लड़ाई हो गयी है—ओमजी उसे गृहमंत्री लाल-बहादुर शास्त्री के यहाँ ले जा रहे हैं, कोई और योजना है और प्रधानमंत्री के यहाँ श्री बौरी और उषा भगत से मिला रहे हैं; नाटक के क्षेत्र में कुछ होना है और वे सुरेश अवस्थी और अलकाज़ी को अपने यहाँ ड्रिंक्स पर बुला लेते हैं, "टाइम्स ऑफ़ इंडिया" में कुछ होना है, रात को उन्होंने शामलाल और राकेश दोनों को खाने पर बुलाया है। अनिता का परिवार आया है और "राजकमल" का गेस्ट-हाउस उनके लिए हाजिर है, राकेश को अनिता के साथ बम्बई भागना है और पैसे लिये ऐयरपोर्ट पर मौजूद हैं, पुष्पा से निपटना है, ओमजी ही कर लेंगे सब धमकाना-समझाना जो भी हो।

राकेश इस बात को लेकर काफ़ी चौकस था कि मेरे या कमलेश्वर के ओंप्रकाशजी से सीधे सम्बन्ध न बनें। मेरे दुष्प्रभाव से तो उनसे उन्हें सिर्फ़ बचा कर ही रखा, मगर कमलेश्वर की ज़िम्मेदारियों और आर्थिक अस्थिरता का फ़ायदा उठाकर अनेक बार उसे अपमानजनक स्थितियों और ज़लालत में डाला था। भैरवजी के "नई कहानियाँ" छोड़ देने के बाद तय हुआ कि हम सब लोग

साथ हैं, ओंप्रकाशजी ही क्यों न सम्पादन करें? साल-छ: महीने उन्होंने किया भी कि अचानक बात उठी "नई कहानियाँ" सिर्फ़ पत्रिका ही नहीं है, कि कोई भी व्यक्ति बैठकर सम्पादन करने लगे। वह एक फ़ोर्स और आन्दोलन भी है। उसमें व्यक्ति कहानी का ही कोई होना चाहिए। वर्ना "नीहारिका", "सरिता" या "माया" जैसी व्यक्तित्वहीन पत्रिका होकर रह जायेगी। तब वहाँ कमलेश्वर का नाम आया। कुछ समय बाद अचानक माहौल बनना शुरू हुआ कि ओंप्रकाशजी ने "नई कहानियाँ" बन्द करने का निर्णय ले लिया है। राकेश और कमलेश्वर ऊपर-नीचे रहते थे। अब कमलेश्वर क्या करेगा ? हम लोगों की गंभीर बैठकें हुईं—कभी मेरे यहाँ, कभी वहाँ। यहाँ तक तय हुआ कि अगर "राजकमल" ऐसा करे तो पत्रिका को हम लोग ले लें और चलायें। पैसों की संभावनाओं और दूसरी व्यवस्थाओं पर विचार-विमर्श हुआ कि बात का धीरे-धीरे एक नया ही रूप उभरने लगा। तनाव के कारण कमलेश्वर-ओंप्रकाशजी के बीच संवाद नहीं था और वक़ौल राकेश, मुझे वे पसन्द नहीं करते थे। यानी उनसे बात करने का सेतु वही था। एक दिन बहुत हैरान-परेशान बौखलाते हुए राकेश ने आकर हम दोनों को बताया, "यह नहीं होगा...कल का बन्द करता आज कर दे, मगर मैं तो मना कर आया हूँ कि ऐसा हरगिज़-हरगिज़ नहीं करूँगा।" सारे विस्फोट और उफान के बाद जो बात निकली वह यह कि ओंप्रकाश कहते हैं, "राकेशजी, अगर आप इसे सँभाल लें तो "नई कहानियाँ" को फिर चलाया जा सकता है। मैं तो साफ़ मना कर आया हूँ। कमलेश्वर मेरा दोस्त है और उसके साथ ऐसा नहीं करूँगा। वैसे भी हम सब तो साथ हैं ही। मगर वह अड़ा है कि अपना नाम दीजिये, वर्ना .. ख़ैर, फ़िलहाल तो मैं कह आया हूँ कि दोस्तों से सलाह ले लूँ अब तुम दोनों बताओ, फिर कल मेरे ऊपर चढ़ आओगे कि .।" कमलेश्वर ने शायद झटके से कहा .."क्या फ़र्क़ पड़ता है ? मैं रहूँ, तुम रहो, या राजेन्द्र हो ? ज़रूरी कमलेश्वर नहीं, "नई कहानियाँ" है। फिर हम लोग सब साथ तो हैं ही।" राकेश भावुक हो आया। गीली आँखों से बोला, "कैसी बातें करता है, कमलेश्वर, मैं तेरी जगह लूँगा ? इस वक़्त तो सबसे अच्छा यही होता कि यह राजेन्द्र ले लेता मगर इसकी ओमजी से एक दिन नहीं पटेगी। मैं तो कहता हूँ कि कर लेने दो बन्द, हम लोग चलायेंगे।" हस्ब-मामूल, हम लोग काफ़ी देर तक बातें करते रहे और यह बात विस्तार से आयी कि मानू छोटी है, गायत्री भाभी का स्वास्थ्य ठीक नहीं है; किराया और दूसरी आर्थिक परेशानियाँ हैं ही—इसलिए किसी तरह का रिस्क लेना ठीक नहीं है और कोई-न-कोई तरीक़ा ऐसा निकालना चाहिए कि कमलेश्वर वहीं बना रहे।

ख़ैर, दो-चार मीटिंगें और हुईं और तसवीर यह उभरी कि ओमजी किसी भी शर्त पर मानने को तैयार नहीं हैं कि कमलेश्वर के साथ "नई

कहानियाँ" निकले। हाँ, राकेश अगर अपना नाम दे दे तो फिर कमलेश्वर भी बना रहे। अब राकेश और कमलेश्वर दोनों ही एक-दूसरे के लिए शहीद हुए जा रहे थे, "तू ले ले". दोनों ही कॉज़ और आन्दोलन के लिए हर तरह का त्याग करने को तैयार थे और व्यक्ति या नाम को क़तई महत्व नहीं देना चाहते थे। आख़िर तोड़ इस पर हुआ कि कमलेश्वर ही सम्पादक बना रहे। हाँ, राकेश का नाम ऊपर "सौजन्य-सम्पादक" की तरह जाये। कुछ पैसे कमलेश्वर के कम किये जायें और राकेश का किराया, टेलीफ़ोन यातायात इत्यादि "नई कहानियाँ" दे। थोड़ी देर बाद ही मुझे इस तरह के किसी खेल की गंध लगने लगी थी, इसलिए मैंने इस सबका विरोध किया। ऊपर-नीचे एक ही मकान में रहकर यह "सम्पादन" और "सौजन्य-सम्पादन" कैसा रहा—वह लम्बा और अलग क़िस्सा है। दोनों के बीच "संवाद" कागज़ की चिटों पर होते थे और राकेश बहुत आग्रही था कि जब तक उसका नाम वहाँ है, पत्रिका में कोई रचना, कोई लेख या रिव्यू, ले-आउट या पंक्ति बिना उसकी "जानकारी" (या स्वीकृति) के न जाये और कमलेश्वर पत्रिका के प्रूफ़ इत्यादि सही ढंग से देखे। वर्ना उसे नाम हटा लेना होगा और फिर ओमजी पत्रिका बन्द कर देंगे।

यह सारी घटना राकेश और ओंप्रकाशजी के सम्बन्धों को समझने का सूत्र है। वे भावुक और दोस्त आदमी थे, इसलिए उनसे जो भी कुछ कराया जा सकता था वह उसी पक्ष को छूकर ही हो सकता था। वे दोस्त की "इमेज" बनाने के साथ-साथ एक "अद्वितीय प्रतिभा" के विकास में अपना योगदान दे रहे थे। यही कारण था : जब ओंप्रकाश जी "राजकमल" से हटे तो राकेश ने उसे एक आन्दोलन का रूप देना चाहा कि मामला सिर्फ़ ओंप्रकाशजी और शीला सन्धू का ही नहीं है, हम सभी लेखकों और बुद्धिजीवियों का भी है। मैं राकेश और ओंप्रकाशजी दोनों से खिन्न था इसलिए तटस्थ रहा। राकेश अपना सारा समर्थन ओमजी को देता रहा, मगर मिलना-जुलना शीलाजी से भी बनाये रहा। शीलाजी की पृष्ठभूमि हिन्दी में नहीं थी और साफ़ था कि उन्हें एक ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता थी जो सलाहकार-सम्पादक हो सके। ओंप्रकाशजी फिर भी हिंदी के ही थे और सारी बातों को खुद समझते और निर्णय लेते थे। शीघ्र ही 'राधाकृष्ण' शुरू हुआ और सुनायी दिया कि राकेश अपनी सारी किताबें "राजकमल" से ले रहा है क्योंकि वहाँ रूसी पैसा है, और शीलाजी ने नामवर को अपने साथ कर लिया है..। और फिर धीरे-धीरे बात ठण्डी हो गयी। शीलाजी और ओंप्रकाशजी दोनों एक-दूसरे से अपने हिसाब चुकाते रहे. राकेश ने अपना हिसाब-किताब दोनों तरफ़ बनाये रखा। ओंप्रकाशजी उन दिनों बहुत आहत थे। शायद यही कारण था कि "अक्षर" के झगड़े में उन्होंने चौधरी का ही साथ दिया, क्योंकि कहीं वे अपने-आपको चौधरी की ही जगह देखते थे। यहाँ राकेश

पूरी तरह उधर ही था...।

इसलिए मेरे मन में स्वाभाविक शिकायत और गाँठ थी कि ओंप्रकाश जी का व्यवहार शुरू से ही मेरे प्रति निर्दोष और निष्पक्ष नहीं रहा है। अगर वे थोड़ा 'स्वतंत्र' होकर निर्णय लेते और मेरे प्रति कोरा व्यावहारिक सम्मान ही न रखते तो शायद "अक्षर" के अस्तित्व में आने की बात ही न उठती। या चौधरी-राकेश और मेरे बीच ऐसी संवादहीनता की तनाव-भरी स्थितियाँ न आतीं। राकेश की मृत्यु पर श्मशान में वे जिस तरह लिपटकर रोये थे उसमें केवल राकेश के न रहने का शोक ही नहीं था। मैं भी उस समय विह्वल हो आया था: शायद मैं इस आदमी को ग़लत समझता रहा हूँ। व्यक्तिगत संबंध जो भी रहे हों, मगर इस व्यक्ति के महत्व और योगदान को मैंने किसी दिन कम करके नहीं आँका। बाद में राकेश की पुस्तकों, अनिता और बच्चों के लिए जिस तरह उन्होंने सारा कुछ किया—वह दोस्त से अधिक बड़ा भाई ही कर सकता था। मुझे अच्छा भी लगा था और मैंने शिकायत भी की थी कि भावुकता की लहर में वे कितना बड़ा जोखिम उठा रहे हैं, कहीं एक दिन उन्हें वह भारी न पड़े। उन दिनों जो वातावरण था उसमें कहीं कुछ ग़लत न हो जाये, इसके लिए शीलाजी और पुष्पा से मैंने उन्हें विशेष रूप से मिलाया था। ये दोनों पहले परिचय के कारण मेरे पास ही आयी थीं और वास्तविकता की जानकारी सिर्फ़ ओमजी को ही थी...राकेश अपनी वसीयत में जो भी कुछ लिख गया हो, मगर मुझे एक ऐसा मित्र ज़रूर दे गया था जिससे हर स्तर की बात की जा सकती थी, सलाह और हिस्सेदारी हो सकती थी—व्यक्तिगत और वैचारिक...।

अदीना कहती है, "और सबके दादा तो बोल कर जाते हैं। मेरा दादा बिना बताये ही चला गया।" और अपने अन्तिम क्षणों में ओंप्रकाशजी ने लिखा है, "ज़िन्दगी में कुछ करने को नहीं रह गया है।" एक ऐतिहासिक काम था जिसे उन्होंने पूरा कर डाला था, या सचमुच वे भीतर से इतने रीत गये थे कि कुछ भी करने लायक़ नहीं रह गया था? या और कोई ख़ालीपन था जिसे वे सिर्फ़ अपने भीतर ही जी रहे थे? पता नहीं क्यों, 1911 में "ज्याँ क्रिस्तोफ़" के अन्तिम-भाग में लिखा रोम्याँ रोलाँ का वाक्य याद आता है: "और मैं अब अपनी उस आत्मा से विदा माँगता हूँ जो कभी मेरी थी। अपने-आप से बाहर मैं उसे इस तरह फेंकता हूँ जैसे ख़ाली छिलके को फेंक दिया जाता है। जन्म और पुनर्जन्म का अटूट क्रम ही तो जीवन है। फिर से जन्म लेने के लिए हमें मरना होगा, क्रिस्तोफ़।"

—राजेन्द्र यादव



शब्द और कलाकार



# पन्तजी के साथ दुनिया का चक्कर

अपने देश की सीमाओं के बाहर की दुनिया को देखने का सपना किसने न देखा होगा ? दूर देश का सम्मोहन, अपनी परम्परा, अपने रीति-रिवाज, वेशभूषा, समाज-व्यवस्था से भिन्न लोगों, समाजों और देशों को नजदीक से, स्वयं देखने के लिए मैं जाने कब से लालायित था। मेरा यह स्वप्न साकार हुआ 12 अक्तूबर, 1961 को—और लगा कि कितना सौभाग्यशाली हूं मैं। उस दिन मैंने दिल्ली के पालम हवाई अड्डे से हिन्दी के और देश के शिरोमणि कवि सुमित्रानन्दनजी पन्त के साथ प्रातः 8 बजे एयरोफ़्लोट के जेट हवाई जहाज़ पर बैठकर एक मास की विदेश-यात्रा के लिए प्रस्थान किया।

पासपोर्ट दिखलाकर और कस्टम से गुज़रकर टी० यू० की ओर बढ़ते हुए भी यक़ीन न आता था कि आख़िर अपने देश की भूमि को छोड़ने जा रहे हैं। कितने मित्र, रिश्तेदार और सगे-सम्बन्धी पन्तजी को और मुझे बिदाई देने के लिए मौजूद थे—उन सबकी सौहार्दपूर्ण सद्भावनाएं दिनों तक हमारे साथ रहीं। बच्चनजी ने अलग ले जाकर मुझसे कहा, "पन्तजी को आपके भरोसे विदेश जाने दे रहे हैं—इनका विशेष ध्यान रखना।" उनकी सहचरी तेजीजी (मुझे उनका यही नाम मालूम है), अपना अनन्य स्नेह अपने पति के परम मित्र और श्रद्धा-भाजन कवि के प्रति निःशब्द भाव से व्यक्त कर रही थीं। दो दिन पहले दिल्ली के हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ओर से पन्तजी की प्रथम विदेश-यात्रा के उपलक्ष्य में बिदाई देने के लिए एक सभा आयोजित हुई थी, जिसमें उनके एक अन्य मित्र कवि श्री नरेन्द्र शर्मा ने कहा था कि पन्तजी बम्बई की सड़कों को पार करने में कितना घबराया करते थे—लेकिन अब उन्हें आकाश के पथहीन महामार्ग को पार करते हुए सड़कों की अड़चनों का सामना नहीं करना पड़ेगा, वे नदी-नालों और गिरि-उपत्यकाओं को निर्विघ्न लाँघ जायेंगे। अनेक अन्य लोगों ने भी उनकी प्रथम विदेश-यात्रा के लिए अपनी शुभकामनाएं प्रस्तुत की थीं। "शुभास्ते पन्थानः सन्तु" के इन वचनों की हार्दिकता की इससे बड़ी साक्षी

क्या होगी कि पन्तजी (और लगे हाथ मैं भी) विना किसी हानि और संकट के हज़ारों मील की यात्रा और ताशकेंट, मास्को, लेनिनग्राड, कीव, पूर्वी वर्लिन, पश्चिमी वर्लिन, फ्रैंकफ़र्ट, पेरिस और लन्दन के लोगों, मोटरकारों, बसों और ट्रकों के भीड़-भड़क्के से भरी हुई सड़कों को पार करके ख़ैरियत से घर लौट आये।

## इशारों की भाषा

एयरोफ़्लोट में हमारे सहयात्री प्रायः सभी रूसी नागरिक थे—जेट में चढ़ते ही ऐसी ज़बान सुनने को मिली, जिसकी ध्वनि तो सुनायी पड़ती थी, लेकिन अर्थ पल्ले नहीं पड़ता था। तव यह एहसास हुआ कि भाषा एक मनुष्य को दूसरे से सुपरिचित कराने का ही माध्यम नहीं है, भाषाएँ एक मनुष्य-समूह को दूसरे मनुष्य-समूह से दूर रखने का साधन भी हैं। इतनी वैज्ञानिक उन्नति के आज के युग में क्या कोई ऐसी भाषा ईजाद नहीं की जा सकती जो कि सर्वसुलभ हो! अपनी यात्रा के दौरान हमें अनेक वार उस भाषा का प्रयोग करना पड़ा जो कि किसी भी सभ्यता के विकास से पूर्व मानव कभी वरतता होगा—अर्थात् इशारों और संकेतों की भाषा। भूख लगी तो हाथ मुँह की तरफ़। खाना खा लिया तो मेज़ पर फैले वरतनों को हटाने का हाथों से संकेत!! इस भाषा के लिए पढ़ाई-लिखाई भी नहीं करनी पड़ती—'स्पुतनिक' और 'वॉस्तोक' के युग में भी इसका प्रचलन है।

ताशकेंट की ढाई घंटे की हवाई-यात्रा कभी भूल नहीं सकती। रास्ते में मीलों-मील चारों ओर पहाड़ों की वर्फ़ से लदी सफ़ेद चोटियाँ दिखलायी पड़ती हैं या ऊँचे-ऊँचे, कभी हरे पेड़ों से विछे, कभी नंगे, तरु-तृण-विहीन पहाड़ और भारी-भरकम चट्टानें। यह गिरि-शृंखला हमें अपने पड़ोसी अफ़ग़ानिस्तान, रूस और चीन से अलग किये हुए हैं, और इन्हीं की लम्वी-ऊँची दीवार के कारण भारत गर्म देश है; उत्तर की वर्फ़ीली हवाएँ यदि हमारी तरह इस वाधा को आसानी से पार करने में समर्थ होतीं तो आज हमारे देश की जलवायु, परिणामस्वरूप हमारा चरित्र, हमारा इतिहास, हमारी अर्थव्यवस्था कहीं भिन्न होती। पन्तजी जी इस हिमाच्छादित, असम धरातल को देखकर मुग्ध हो गये, वाद में अनेक वार उन्होंने अपने पर इसके सम्मोहन का ज़िक्र किया। 50-60 हज़ार फ़ीट की ऊँचाई पर उड़ते हुए हवा वहुत पतली हो जाती है; धरती की धूल उसमें नहीं रहती और साँस लेने में कठिनाई होती है। इस कठिनाई में यात्रियों को आक्सीजन देने की व्यवस्था भी टी० यू० में थी—पन्तजी ने आक्सीजन का मास्क मुँह पर चढ़ा लिया, लेकिन आँख उनकी खिड़की से वाहर ही लगी थी—जहाँ कि अव श्यामल, सफ़ेद गहरे वादलों के गद्दे पहाड़ों की

चोटियों पर दूर-दूर तक फैल रहे थे—किसी के आराम से उन पर पसर जाने की प्रतीक्षा में !

## ताशकेंट तो पहुँचे गये, लेकिन अब ?

ताशकेंट आ पहुँचे। लम्बा-चौड़ा हवाई मैदान, जिसका कि भारत और रूस के बीच हवाई-यात्रा आरम्भ होने के दिनों से महत्व बढ़ गया है। ठंडी हवा ! पहली नज़र से उजबेकिस्तान की यह राजधानी किसी छोटे भारतीय नगर से ज़्यादा नहीं जँची। वैसी ही मिट्टी, वैसी ही हवा, वैसे ही लोग, रंग भी उनका बहुत ज़्यादा गोरा नहीं था, उत्तरी भारत के लोगों के मुक़ाबले में। देश और विदेश में फ़र्क क्या होता है? पेड़ों की वही हरी पत्तियाँ, वही भूरे तने और टहनियाँ। ये राजनीतिक सीमाएँ ही क्या मनुष्य को अलग-थलग रखे हुए हैं? वैसे ही पशु और वनस्पति, फल और सब्जियाँ, अंगूर और सरदा ! भाषा अलग लेकिन ऐसी वेशभूषा तो हमारे यहाँ भी, अन्य देशों में भी चलती है। सिक्का अलबत्ता नया !

"प्रथमे ग्रासे मक्षिका पातः" वाली कहावत ताशकेंट पहुँचने पर हमारे लिए चरितार्थ हुई। हवाई अड्डे पर हमें लिवाने के लिए कोई नहीं दीख पड़ा। एक संभ्रांत महिला और एक युवक हाथों में गुलदस्ते लेकर आये भी थे; एक नज़र उन्होंने हमारी ओर देखा भी, लेकिन हमारी ओर मुख़ातिब नहीं हुए, लौट गये। अब पासपोर्ट दिखलाने कस्टम में गये। अब हमारी कौन सुनता है कि हम यहाँ सोवियत-इंडियन सोसायटी के अतिथि होकर आये हैं? कोई पत्र ? नहीं तो, पन्तजी ने कहा, 'मिस्टर सैरेब्रियाकोव को ऐसा पत्र हमें दे देना चाहिए था। तभी चाणक्यपुरी के रूसी दूतावास में वीसा लेने में इतनी देर हुई। उन्होंने वहाँ फ़ोन करने में भी दो दिन लगाये। भारत से चलने में भी इतने दिन लग गये। पहले 2 अक्तूबर को, फिर 7 को, 10 को और अन्त में 12 को चल सके। उसकी मुसकराहट से ही मैं समझता था।' मिस्टर सैरेब्रियाकोव हमेशा मुसकरानेवाले, लेकिन अपनी किसी अन्य मुद्रा से अपना कोई भेद न देने वाले रूस के भारतीय दूतावास के तब प्रथम सांस्कृतिक सचिव थे—अनन्य सज्जन ! हिन्दी और पंजाबी भाषाओं, साहित्य और भारतीय संस्कृति के विद्यार्थी। भारत में उन्होंने सैकड़ों मित्र बना लिये थे—अब वह मास्को लौट चुके हैं। उन्हीं की मार्फ़त हमें यह निमंत्रण मिला था। अब ताशकेंट के हवाई अड्डे पर उनका कोई नाम नहीं जानता, मास्को-स्थित जिन रूसी भाइयों से हमारा परिचय था, उन्हें कोई नहीं जानता; हमारे पास परिचय या निमंत्रण का कोई पत्र नहीं है; अपनी सरकार के वैज्ञानिक अनुसंधान और सांस्कृतिक मंत्रालय तक का पत्र भी नहीं, जो कि हम देश में ही छोड़ आये थे। आख़िर वेटिंग-हॉल

में आ पहुँचे। बड़े-बड़े आरामप्रद कोच, लेकिन आराम तो मन में चाहिए था न ! एक-दूसरे का मुँह ताकें, और पूछें, अब ?

## और इसका रहस्य खुला

तभी, लगभग आध घंटे बाद, वही संभ्रांत महिला और नवयुवक आ पहुँचे— हाथों के गुलदस्ते के फूल कुछ मुरझा चुके थे। नवयुवक था शुकूर इब्ले अबदुर्रमान, और महिला थीं मदाम गुलामुल्योवा—ताशकेंट की फ्रैंडशिप सोसायटी की उप-प्रधान। शुकूर अंग्रेज़ी जानता था—नाटा-तगड़ा जवान। कई दाँत सोने से मढ़े हुए। बात हुई। उन्होंने गुलदस्ता हमें सौंपा और बोले, 'हमें तार मिला था, किन्हीं भारतीय स्त्रियों के आने के बारे में। हम उन्हें ही खोज रहे हैं।' तार अंग्रेज़ी में लिखा था—टू मेन डेलीगेट्स रीचिंग। सो तार में 'टू' का प्रथम अक्षर 'टी' शायद उड़ गया और रह गया वीमेन डेलीगेट्स रीचिंग। आप ही वे डेलीगेट्स होंगे, लेकिन हमें मास्को से पता लेना होता— फ़िलहाल आप होटल चलें और आराम करें।'

इस बीच हमें रूसी डॉक्टर आकर खूबसूरत गिलास से कोई दवा पिला गये थे—जेट से उतरने से पहले ही हमारा टेम्परेचर भी लिया गया था। शुक्र है कि दवा कड़वी नहीं थी—क्या थी, हम नहीं जान पाये। शायद कोई ऐन्टी-बायोटिक थी—आदिम भाषा में बातें होती थीं और उत्तर मिलते थे। अकुलाहट बढ़ रही थी—मास्को पहुँचने की उत्सुकता और अब उसके राह की बाधा आ जाने के कारण। मास्को में कई परिचित भी थे—भारतीय भी और रूसी भी। यहाँ ?

होटल ताशकेंट की शानदार इमारत के अपने कमरे में पहुँचते ही हमने शुकूर से पूछा, 'हम मास्को के लिए कब उड़ रहे हैं ?' इस बीच मदाम गुलामुल्योवा मास्को की फ्रेंडशिप सोसायटी के अधिकारियों से फ़ोन पर बातचीत करके हमारा परिचय पा चुकी थीं, हमारे प्रोग्राम के बारे में भी पूछ-ताछ कर चुकी थीं।

मदाम गुलामुल्योवा की उज्बेकी भाषा की बातों का अँग्रेज़ी में उलथा करके शुकूर ने हमें बतलाया कि मास्को में इस समय बड़ी भीड़ है। न केवल रूस के 15 राज्यों से, वरन प्रायः दुनिया के सभी देशों से हज़ारों की संख्या में प्रतिनिधि कम्युनिस्ट पार्टी की 22वीं कांग्रेस के लिए इकट्ठे हो रहे हैं, जो कि 18 अक्तूबर को प्रारम्भ होगी। होटलों में जगह नहीं है। हम 4 दिन यहीं ठहरें, फिर लेनिनग्राड जायें और 23 तक पार्टी कांग्रेस के समाप्त होने पर, मास्को पहुँच जायें।

तो हमारे लौटने का प्रवन्ध कर दें

दवा कड़वी नहीं थी, लेकिन अब मुँह में और मन में कड़ुवाहट भर रही थी। यह कैसा निमंत्रण है? हमें पहले मास्को पहुँचना है—वाद में कहीं और। मदाम गुलामुल्योवा ने कहा, 'आप तो इस देश को देखने आये हैं—उजवेकिस्तान भी इसी देश का अंग है। आप मास्को जाने की इतनी उतावली में हैं कि ताशकेंट की उपेक्षा कर रहे हैं। मैं क्या यह समझूँ कि आपकी इस राज्य और शहर को देखने में कोई दिलचस्पी नहीं है?'

पन्तजी ने समझा-बुझाकर कहा, 'वहुत दिलचस्पी है। हम ज़रूर ताशकेंट में कुछ दिन रुकना चाहेंगे, लेकिन भारत लौटती वार। पहले मास्को पहुँचना ज़रूरी है। यदि हमें मास्को नहीं भेजा जा सकता तो आप हमारे लौटने का प्रवन्ध कर दीजिये।'

खाने के लिए 'ताशकेंट रेस्तराँ' में सैकड़ों आदमियों की भीड़ थी—मिनरल-वाटर और फ्रूट-वाटर या अनेक क़िस्म की शराव की वोतलें, सफ़ेद और राई की गहरी भूरी रोटी के टुकड़े, शीशे की ऊँची तश्तरियों में उज्वेकी, लाल और हरे अंगूरों के भारी-भरकम गुच्छे, मोटे-मोटे लाल सेव। तरह-तरह के मांस और सूप और वेजिटेवल सलाद। गोरी-चिट्टी नवयुवतियाँ आर्डर ले रही थीं, मुस्तैदी से सर्विस कर रही थीं। उन्हें वेट्रेस कैसे कहूँ—हमारे यहाँ यह शब्द बहुत सम्मान का नहीं है और एक हलकेपन की भनक इससे होती है। खाना खा चुकने वाले ग्राहकों से वहीं-के-वहीं पैसे ले लेती थीं। होटल में उज्वेकी लोगों के अलावा रूसी स्त्री-पुरुष भी काफ़ी संख्या में थे, रूस के अन्य राज्यों के भी रहे होंगे। अच्छी चहल-पहल थी।

खाना खाने के वक़्त भी अन्दर-ही-अन्दर चिन्ता कसमसा रही थी। वाहर अपना ओवरकोट लेने के लिए पहुँचे तो एटेंडेंट ने माथे पर हाथ ले जाकर ज़ोर से ठोंका, 'सलामआलेकुम।' और हँसा, हाथ मिलाया।

उसे पन्तजी वहुत प्रिय लगे—शुकूर ने उससे कहा—'भारत के 'शयेर' हैं—शायर-कवि!' लम्वा-तगड़ा जवान, उसके भी दाँतों में सोना!

मन में एक सवाल था—अनुत्तरित—जाने कव मास्को पहुँचेंगे! शुकूर ने वतलाया कि मदाम फिर से फ़ोन द्वारा मास्को से वातचीत कर रही हैं—जल्दी ही हमारा प्रोग्राम तय हो जायेगा। लेकिन वह इस वात से खुश नहीं हैं कि हम ताशकेंट में चार दिन भी रुकना नहीं चाहते।

अगर हमारी यही इच्छा है तो हम मास्को वखूवी जा सकते हैं, लेकिन शहर के भीतरी भागों के होटलों में जगह नहीं है—वाहर के किसी होटल में ठहरना होगा।

'क्या हमें शहर आने-जाने के लिए मोटर-गाड़ी मिल जायेगी?'

'हाँ, हाँ।'

'तो यह भी क्या शर्त है—हम बाहर के होटल में ही ठहर जायेंगे। लेकिन मास्को ज़रूर।' शाम की चाय के वक़्त शुकूर ने अगली सुबह के 9-50 के इन्टर्नल प्लेन के लिए दो टिकटें लाकर हमें थमा दीं। हमें इस बात की भी सुविधा थी कि हम पार्टी कांग्रेस के दिनों में यूरोप की यात्रा कर आयेंगे और फिर अपने निमंत्रण के शेष दिनों के लिए रूस लौट आयेंगे।

दिन का खाना खाने के बाद लौंज से उठकर हम शहर घूम आये थे—बड़ी चौड़ी-चौड़ी सड़कें, बड़ी-बड़ी दूकानें। बड़ी ऊँची-ऊँची इमारतें बन रही थीं। शुकूर ने बतलाया कि पहले दीवारों के लिए एक-एक करके ईंटें चिनी जाती थीं। उसमें इमारत के खड़ी होने में देर लगती थी; अब सीमेंट-कंक्रीट के प्रीफ़ैब्रिकेटिड स्लैबों का इस्तेमाल किया जाता है। श्रमिकों के लिए बड़ी तादाद में नये मकान, नये फ़्लैट्स बन रहे हैं, नये-नये कारख़ाने लगाये जा रहे हैं। उजबेकिस्तान बहुत पिछड़ा हुआ इलाक़ा था, अब इसके जीवन में प्रगति आयी है। लोग मुसलमान हैं—कभी धर्मान्धता के शिकंजे से कसे हुए थे। इसी राज्य में समरकंद और बोखारा के ऐतिहासिक नगर भी हैं। पंजाबी की एक कहावत याद आयी जैसे भोजपुरी क्षेत्र में किसी को शिकारपुरी, वैसे ही पंजाबी में कहते हैं—'बड़ा उजबक' है। यह वही उजबकों का देश है—लेकिन अब? व्यापार के नाते इन लोगों का सदियों से उत्तरी भारत तक आना-जाना बना रहता था। अब नया जोश, नया ख़ून, नया निर्माण, नयी सभ्यता!

## विज्ञापन युग में भी?

सिनेमा, बैले या ऑपेरा थियेटर के अतिरिक्त किसी सड़क पर, किसी दीवार पर, कोई इश्तहार लगा दिखायी नहीं पड़ा। शुकूर से मैंने पूछा, 'आपके यहाँ क्या किसी चीज़ की 'एडवरटाइजिंग' नहीं होती?' लेकिन शुकूर को 'एडवरटाइज़िग का अर्थ ही मालूम नहीं था—बोला, 'एडवरटाइजिंग क्या?' जी में आया कि कहूँ—हट उजबक कहीं का! लेकिन इस समाज में चीज़ों की खपत के लिए इश्तहारबाज़ी नहीं करनी पड़ती, न किसी दूसरी चीज़ के मुक़ाबले में बढ़ा-चढ़ाकर अपने गुण ही बघारने होते हैं।

शहर के कुछ हिस्से अभी काफ़ी पुराने थे—गारे के घर, घास-फूस की छतें। लेकिन अन्दर उनका सलीके से सजा और सम्पन्न घर। सब पुरानी इमारतें योजना के अनुसार गिरायी जा रही हैं—बड़े पैमाने पर नव-निर्माण के चिह्न हमें देखने को मिले।

शुकूर अभी-अभी बाप बना है—उसकी बच्ची आज दो महीने अट्ठारह दिन की हुई है। माँ बनने के लिए पत्नी को 4 माह की सवेतन छुट्टी मिली है,

वह काम करती है और 110 रूबल प्रति मास पाती है (भारतीय सिक्के में 550 रुपये)। शुकूर के 72 वर्ष की उम्र के पिता भी उसी के साथ रहते हैं; उन्हें पेन्शन मिलती है। शुकूर को स्वयं भी 150 रूबल (750 रुपये) मिलते होंगे—सो सारा परिवार मज़े में एक साथ रहता है। उसने कहा, 'हम लोग ज्वाइंट-फ़ैमिली के तौर पर रहना पसन्द करते हैं, यद्यपि इस रहन-सहन को पश्चिमी लोग, यहाँ तक कि कुछ रूसी भी, बहुत पसन्द नहीं करते।'

एक स्टेडियम में किसी स्कूल के बच्चों की पैरेड हो रही थी, दूसरी तरफ़ स्वस्थ, हँसमुख बच्चे और बच्चियाँ किलकारियाँ भरते हुए जिमनास्टिक कर रहे थे। तीन घंटे लगातार मोटर में घूमने पर शहर-भर में हमें एक भी भिखारी देखने को नहीं मिला। काफ़ी मोटरें और बसें सड़कों पर आ-जा रही थीं—देखने को बहुत कुछ था—लेकिन हमारे मन में मास्को पहुँचने की धुन जो लगी हुई थी, सो होटल लौट आये।

टिकटें पास थीं, इसलिए कुछ चैन था। शुकूर के साथ शाम को खाना खाकर एक थियेटर देखने के लिए गये। रास्ते में एक प्रकाशन-गृह के भव्य दफ़्तर के पास की बिल्डिंग में खिड़कियों के अन्दर से झाँका जा सकता था—सैंकड़ों स्त्रियाँ बिजली की सिलाई की मशीनों से कपड़े सी रही थीं। स्त्रियों के फ़ैशनेबुल कपड़े सीने के बड़े दर्ज़ीघर (कारख़ाने) की तीसरी शिफ़्ट काम कर रही थी। रास्ते में उसी थियेटर की ओर जाते एक अमरीकी सज्जन मिल गये जो कैलिफ़ोर्निया की विस्कांसिन यूनिवर्सिटी में राजनीति-शास्त्र के अध्यापक हैं और आजकल रूस के भीतरी भागों का भ्रमण कर रहे हैं। जापान और चीन के बारे में विशेषज्ञ माने जाते हैं। यहाँ से समरकन्द और बोखारा जायेंगे। पूछने पर उन्होंने बतलाया कि उन्हें किसी प्रकार की कोई तकलीफ़ अमरीकी होने के कारण नहीं हुई। हाँ, एक शिकायत है—यह देश उनके लिए अमरीका से भी महँगा है, उनका रोज़ का ख़र्च 35 डालर के लगभग (150 रुपये) का है।

थियेटर में उज़्बेकी गायन और नृत्यों का अभिनय था। एशियाई संगीत परिचित-सा लगा, नृत्यों की भाव-भंगिमा थी। प्रेम की चर्चा भी थी और लोग ताली बजा-बजाकर अपनी पसन्द की तारीफ़ करते थे। अश्लीलता, किसी रूप में, किसी दृश्य में भी नहीं थी। उस दृष्टि से फीका!

भूल रहा था। शाम की चाय के बाद एक म्यूज़ियम भी देखने गये। म्यूज़ियम में उज़्बेकी पुरातत्व तथा कला के नमूने संग्रहीत थे—कुछ चित्र नये, क्रान्ति के बाद के कलाकारों के भी थे। नये चित्रों से हम प्रभावित नहीं हुए—बतलाया गया कि काफ़ी संख्या में अच्छे, नये चित्र पार्टी कांग्रेस के दौरान बनाये जा रहे हैं और विशेष प्रदर्शनों के लिए मास्को भेजे गये हैं। म्यूज़ियम रूस की नयी सभ्यता में विशेष स्थान रखते हैं—ये जनता को कला, पुरातत्व और

इतिहास की शिक्षा देने के अद्भुत साधन बन गये हैं। प्रत्येक म्यूज़ियम के विभिन्न विभागों में प्रत्येक चीज़ को दिखाने और उसका महत्व समझाने के लिए सुशिक्षित और पटु गाईड्स नियुक्त हैं।

रात खूब नींद आयी, वाहर ठंड थी, अन्दर कमरा सेंट्रली हीटेड़ था। सब इमारतों में गर्म पानी नलियों की राह से सव कमरों में घुमाया जाता है और इससे तापमान, जितना चाहें बढ़ाया जा सकता है। शीशे की बड़ी खिड़की से वाहर शहर की रोशनी झिलमिला रही थी, फ़व्वारों से पानी की महीन रेखाएँ अभी भी धुन्ध वनाने में लगी थीं।

सुवह हम जल्दी ही उठ गये। वाहर सड़कों की धुलाई हो चुकी थी। हमने मुँह-हाथ धोया, सामान समेट लिया। 8 बजे तक रेस्तराँ में जाकर नाश्ता भी कर लिया। साढ़े आठ वजे शुकूर भी आ गया और हम हवाई अड्डे के लिए मोटर में वैठकर चल दिये।

## पतझड़ में मास्को और मास्को में पन्तजी

हम 60,000 फ़ीट ऊँचे उड़ रहे थे। बादलों की कहीं झीनी, कहीं गहरी परतें, रूस की सरज़मीं को ओट में ले रही थीं। कहीं सुदूर तक फैले, वड़े फ़ार्म दिखलायी पड़ते थे। दीख पड़ा, सूर्य की किरणों ने अजगर साँप की मन्थर चाल जैसी वोल्गा नदी में जैसे पिघलाकर सोना वहा दिया है। अपनी घड़ी में 1 वजकर 50 मिनट थे जबकि हमारा जहाज़ मास्को के हवाई अड्डे पर उतरा, लेकिन तभी घड़ी की सुइयाँ 2 घंटे पीछे कर लेनी पड़ीं।

## प्रेवाचक या प्रिय-वाचक !

हवाई अड्डे पर हमें लिवाने के लिए एकेडेमी ऑफ़ साइंसेज़ की इंस्टिच्यूट ऑफ़ ओरिएंटल स्टडीज़ के भारतीय विभाग के अध्यक्ष श्री व्लादीमिर वी० वालाव्रुशेविच, यूनियन ऑफ़ सोवियत सोसायटीज़ ऑफ़ फ्रेंडशिप एंड कल्चरल रिलेशन्स विद फ़ॉरेन कंट्रीज़ की एक सेक्रेटरी श्रीमती इरीना यरशोवा तथा हिन्दी के एक मान्य अध्यापक श्री डिमशित्स मौजूद थे। श्री डिमशित्स से मेरा पुराना परिचय था; कुछ ही मास पहले हमारे दिल्ली के कार्यालय में हिन्दी की पुस्तकों को ख़रीदने के लिए काफ़ी वार आया-जाया करते थे। वह हिन्दी खूब अच्छी वोलते हैं; इरीना हिन्दी और अंग्रेज़ी दोनों जानती है, लेकिन बोलती अंग्रेज़ी में ही है। वही हमारे रूस-प्रवास में सदा हमारे साथ हमारी मित्र, पद-प्रदर्शिका और इन्टरप्रेटर वनकर रही। रूसी में इन्टरप्रेटर के लिए शब्द है—'प्रेवाचक'। प्रिय-वाचक ?

दो मोटरों में वैठकर हम मास्को के दूसरे कोने के बाहरी क्षेत्र में वने एक नये

होटल ओस्तान्किनो की ओर चले। होटल ओस्तान्किनो में अनेक भारतीय टिके हुए थे—23 भारतीय इंजीनियरों का एक ही गिरोह था। देश के सभी भागों से 6 मास की प्रैक्टिकल तकनीकी शिक्षा पाने के लिए आये हुए भारतीय नवयुवक। पार्टी-कांग्रेस के दिनों में प्रतिनिधियों के लिए स्थान ख़ाली करने के लिए ये भी केन्द्रीय होटलों से यहाँ ले आये गये थे। पार्टी कांग्रेस के लिए आये हुए अनेक देशों के विदेशी प्रतिनिधि भी यहाँ दिखलायी पड़े। कमरा-नम्बर 516 में हम ठहरे, जहाँ सब सुविधाएँ थीं। पाँचवीं मंज़िल के इस कमरे की खिड़की से सड़क और उसके पार के बोटैनिकल गार्डन्स का दृश्य नज़र आता था—गार्डन्स के पेड़ों के पत्ते एकदम झड़ गये थे और इस ख़िज़ाँ में भी ठूँठ, घने पेड़ों के इस जंगल की अपनी एक खूबसूरती थी, जो बड़ी प्यारी लगती थी।

## अवारा हूँ !

पहला इम्प्रेशन—वही, जो ताशकेंट पहुँचने पर हुआ था। एक देश की मिट्टी, हवा, पेड़, लोग, सभ्यता के बाह्य चिह्न—दूसरे देश की मिट्टी, हवा, पेड़, लोगों से और सभ्यता के किसी भी बाह्य चिह्नों से भिन्न नहीं। दूसरा इम्प्रेशन—रूस की नारी को कोई अबला कहकर नहीं पुकार सकता। पुरुष से कन्धे-से-कन्धा मिलाकर वह चल रही है, एक इंच भी पीछे नहीं है, किसी भी क्षेत्र में। तीसरा इम्प्रेशन—ये लोग खाते बहुत हैं। मैं यूँ ही बदनाम था, लेकिन यहाँ इनके भोजन का एक-चौथाई नहीं खा पाता हूँ, पेट भर जाता है। चौथा इम्प्रेशन—रूसी लोग भारतीयों के प्रति बड़ा सद्भाव रखते हैं। पता चले कि आप भारतीय हैं—प्रायः हम दीख ही जाते हैं—और पन्तजी तो समूर्त भारतीयता हैं—फिर देखिये, उनका आपके प्रति स्नेह, अपनापा ! क्या कुछ वह आपके लिए नहीं करना चाहेंगे ! 'इन्डिस्की' (भारतीय) इस मन्त्र के उच्चारण से बड़ी-से-बड़ी भीड़ में भी हमें आगे जगह मिल जाती थी 'क्यू' छँट जाते थे, थियेटर और ऑपेरा हाउस के बन्द द्वार खुल जाते थे। भारतीय—नेहरू और राज कपूर के देश के लोग ! राज कपूर की लोकप्रियता देखकर हम चकित होते थे; उसकी फ़िल्मों के अनेक गानों के स्वर और बोल लोगों की ज़बान पर थे—'आवारा हूँ'।

पिछला सारा दिन और प्रातः 7 बजे तक की अनिश्चितता तथा सफ़र से पन्तजी थक चुके थे। खा-पीकर वह लेट रहे। उन पर इस विदेश-यात्रा का कितना स्ट्रेन पड़ता था, उसकी यह पहली झाँकी थी।

आराम करके उठे, चाय पी, जिसका कि रिवाज कम है, लोग ज्यादातर कॉफ़ी ही पीते हैं। जगप्रसिद्ध बोल्शोई थियेटर में "रुस्लान एण्ड ल्युडमिला" नाम का ऑपेरा देखने का प्रोग्राम था। ज़ारों द्वारा बनाये हुए इस भव्य थियेटर की सानी नहीं है। 5 मंज़िलों के बाक्सों तथा स्टॉलों में दर्शक बैठते हैं—स्टेज के

ठीक सामने एक किरमची रंग के मख़मली गद्दों से सजा बड़ा-सा बॉक्स ज़ार और उसके परिवार के लिए कभी सुरक्षित रहता था। हाल-भर में हुआ सुनहरी नक़्क़ाशी का काम जगमग करता रहता है। इसमें हो रहे बैले और ऑपेरा में में सीटें नहीं मिलतीं—इतनी अधिक संख्या में लोग यहाँ होने वाले सांस्कृतिक कार्यक्रमों को देखने को उत्सुक रहते हैं।

"रुस्लान एंड ल्युडमिला" ऑपेरा एक पुरानी प्रेम-कहानी के गिर्द बुना गया था। कई सौ स्त्री-पुरुषों का गायन और नृत्य-अभिनय मनोहारी और बहुत आकर्षक लगा। अभिनेताओं की वेशभूषा और उनका मेक-अप बहुत ही सावधानी-पूर्वक किया गया था। किसी ज़ार की एक नवयौवना बेटी से विवाह करने के उत्सुक तीन प्रेमियों की कहानी इस ऑपेरा में थी। स्टेज के पीछे के परदे और उन पर कैमरों से डाले गये दृश्य मेरे लिए नयी चीज़ थी। एक दृश्य में आकाश में चन्द्रमा और नीचे बहती नदी में उसकी काँपती हुई छाया प्रतिबिम्बित हो रही थी—नदी की लहरें परदे पर बड़ी वास्तविकता से लहरा रही थीं। पन्तजी ने बतलाया कि दृश्य प्रस्तुत करने का यह तरीक़ा भारत में अपनाया जा चुका है।

## इलाहाबाद के गोपेशजी बनाम मास्को के गोपेशजी

वोल्शोई थियेटर जाने से पहले हमने श्री गोपीकृष्ण गोपेश को फ़ोन कर दिया था—होटल लौटे तो वह आ चुके थे। गोपेशजी इलाहाबाद के नवयुवक हिन्दी लेखक हैं—प्रयाग रेडियो में थे जबकि मास्को रेडियो के हिन्दी-विभाग में काम करने के लिए भारत सरकार की माफ़ंत यहाँ बुला लिये गये। पन्तजी के प्रति परम श्रद्धालु। उनके चरण छुये, मैं गले मिला। पन्तजी को मॉस्को में देखकर गद्‌गद! उनकी आँखें भर-भर आती थीं। मैं उन्हें इलाहाबाद से जानता था, लेकिन प्रयाग के और मास्को के गोपेशजी में बहुत अन्तर आ चुका था। पिछले चार बरसों से वह यहाँ हैं और मज़े की रूसी बोल लेते हैं, रूसी (फ़र की) टोपी पहनते हैं, काकेशियन-से दिखायी पड़ते हैं।

## थर्मस लन्दन में मिला

पन्तजी बहुत प्रातः उठ जाते हैं—और प्रार्थना-ध्यान में एक-दो घंटे लगाते हैं। वर्षों से उनका यही नियम है। अगले दिन मैं जब 6 बजे उठा, पन्तजी अपने मेडिटेशन, शेव और स्नान से निवृत्त हो चुके थे। सुबह की चाय का चस्का हम दोनों को है—लेकिन रूस में 'बेड टी' का एकदम रिवाज नहीं है। आठ बजे से पहले कुछ नहीं! कौन देगा चाय? होटल-रेस्तराँ वालों को क्या हमारे समान सोने-आराम की ज़रूरत नहीं है? उतनी सुबह ही निश्चय हुआ कि एक थर्मस फ़्लास्क ख़रीदा जाये जिसमें रात को ही हम चाय भरवा के रखवा लिया करेंगे।

लोग चाय पीते भी हैं तो दूध के साथ नहीं—नीबू निचोड़ के। हमें तो अच्छा लगता था दूध डाल के—विशेषकर पन्तजी को। दो-तीन दूकान में, समय निकाल कर, थर्मस ख़रीदने के लिए गये—स्टाक ख़त्म हो चुका था—जिस बड़ी दूकान में मिल सकता था, वहाँ जाने का समय नहीं मिला। सो यह व्यवस्था पूरी की लन्दन से फिर मास्को लौटने के वक़्त जहाँ से तीन रुपये में एक छोटा फ़्लास्क मैं ख़रीद लाया। फिर तो हर सुबह चाय पीने को मिलने लगी— बिना किसी को कष्ट दिये !

## सोसायटी ऑफ़ फ्रेन्डशिप

"यूनियन ऑफ़ सोवियत सोसायटीज़ ऑफ़ फ्रेन्डशिप एण्ड कल्चरल रिलेशन्स विद फ़ॉरेन कन्ट्रीज़" की प्रधान हैं मदाम पपोवा जो उन दिनों देश से बाहर गयी हुई थीं। 14 अक्टूबर को प्रातः 10 बजे इस यूनियन की उपप्रधान मदाम ज्यूएवा से हमें मिलने जाना था— हम इसी फ्रेंडशिप सोसायटी के रूस में अतिथि थे। इस सोसायटी के दफ़्तर में अनेक अँग्रेज़ी और हिन्दी-भाषी रूसी काम करते हैं। इसकी स्थापना जनवरी, 1958 में हुई। मास्को की यूनियन ऑफ़ फ्रेन्डशिप सोसायटी के सम्बन्ध दुनिया के 118 देशों से हैं। इसकी अपनी बहुत बड़ी इमारत है, जिसका नाम फ्रेन्डशिप हाउस है—जहाँ अकसर दूसरे देशों की जानकारी के लिए मीटिंग होती हैं, प्रदर्शनियाँ आयोजित की जाती हैं—विभिन्न देशों के स्टाम्प्स की, उनके सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन के चित्रों आदि की।

## भोली इरीना और एक असुविधाजनक सवाल

मदाम ज्युएवा से भेंट के वक़्त इरीना यरशोवा इंटरप्रेटर के रूप में काम कर रही थीं। इरीना या इरा, बड़े भोले चेहरे और छोटे क़द की, बड़ी नम्र और बड़ी सतर्क युवती थी—उसने जिस लगन और स्नेह से हमारी देखभाल की, हमारी हर कठिनाई को सुलझाने की, उसे कहना आसान नहीं है। पन्तजी उसकी पीठ-पीछे उसकी तारीफ़ करते अघाते नहीं थे, उससे अनेक बार कहते थे—'तुम हमारी ही चिन्ता न करो, अपनी भी करो। हमें आरामकी ज़रूरत है तो तुम्हें भी है। तुम्हारी बच्ची नताशा तुम्हारा इन्तजार करती होगी, तुम जल्दी ही घर चली जाया करो। अच्छा, तुम्हारे पति को कितनी असुविधा हमारे कारण हो रही होगी !'

इरीना को कोई असुविधा हुई हो तो उसका इशारा-भर भी हमने नहीं पाया। सुबह के नाश्ते से लेकर रात के खाने तक हाज़िर। दिन में हम आराम करना चाहें तब घंटे-दो घंटे के लिए घर हो आती थी। अक्सर अपने पति और अपनी आठ-वर्षीया बेटी की बात करती थी ; अपनी बूढ़ी माँ की भी, जो परिवार के

साथ ही रहती थी। हमने कोई इच्छा प्रकट की नहीं कि उसकी पूर्ति के लिए इरीना तत्पर हो जाती थी। उसकी उत्कट क्रियाशीलता और उत्तरदायित्वपूर्ण तत्परता को देखकर और उसकी पृष्ठभूमि में सोवियत के नारी समाज को देखकर पन्तजी अक्सर कहते थे कि उस देश में नारी अपने सेक्स के ख़ोल को उतारकर हर क्षेत्र में पुरुष की समभागिनी वन चुकी है। इरीना मार्के की अँग्रेज़ी जानती और बोलती है। उसके हाथ के बड़े पर्स में फिर भी रूसी-अँग्रेज़ी शब्दकोश की एक प्रति हमेशा रहती थी; कहीं किसी रूसी शब्द का ठीक अँग्रेज़ी अर्थ न सूझा तो तुरन्त कोश हाथ में और शुद्ध उलथा तैयार। मैंने एक वार उससे बिना अधिक सोचे-विचारे पूछ लिया—तुम क्या कम्युनिस्ट पार्टी की सदस्या बन चुकी हो? पन्तजी ने मुझसे हिन्दी में कहा - आप भी कैसे-कैसे सवाल पूछ लेते हैं? यह सवाल तो हरगिज़ पूछना उचित नहीं था। इरीना ने कहा—आप यह सवाल क्यों पूछ रहे हैं? लेकिन अब पूछ ही लिया है तो अब बता दूँ। मैं अभी पार्टी की सदस्या नहीं हूँ। पार्टी का सदस्य वन जाना आसान नहीं है। अथक निष्ठा और परिश्रम से बरसों इस सदस्यता की योग्यता प्रमाणित करनी पड़ती है। इरीना का साथ मास्को के हवाई अड्डे पर पहुँचने से लेकर फ्रैंकफ़र्ट के लिए रवाना होने तक रहा। इस सुखद साथ की याद हमें अरसे तक नहीं भूलेगी।

## पन्तजी का स्नेहपूर्ण स्वागत

मदाम ज्यूएवा ने पन्तजी से कहा—आप जैसे महान कवि का अपने देश में स्वागत करने के अवसर के लिए मैं अपने को सौभाग्यशाली मानती हूँ। हम आपकी रचनाओं के द्वारा आपसे सुपरिचित हैं। आपकी कविताओं के एक संग्रह की 50,000 प्रतियाँ छपकर बिक चुकी हैं। हम लोग किस प्रकार अपने समाज और देश के निर्माण में लगे हुए हैं, इसे आप अपनी आँखों से देखेंगे। हमें अपने इस निर्माण के लिए शान्ति की आवश्यकता है। हमें प्रसन्नता है कि आपका देश विश्व-शान्ति का एक बड़ा आधार है।

पन्तजी ने उत्तर में कहा कि मुझे यहाँ आने की बहुत प्रसन्नता है। भारत की नीति सदैव शान्ति के पक्ष में रही है। भारत और रूस की मित्रता शान्ति को अक्षुण्ण बनाये रखने में समर्थ होगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

मिस्टर जुएन्कोव भी वहाँ मौजूद थे, जो ख़ूब हिन्दी बोलते हैं, क्योंकि कई मास भारत भी रह चुके हैं और सोसायटी के एक अन्य सेक्रेटरी भी। मदाम ज्यूएवा ने जानना चाहा कि रूसी समाज के किस-किस विशेष पक्ष को, अथवा किस नगर को हम देखना चाहेंगे, ताकि उसकी व्यवस्था हो जाये। यहाँ के कुछ लेखकों से तो आप मिलेंगे ही, और लेखक-संघों के कार्यालयों में भी जायेंगे। मैंने लेनिनग्राड

और कीव का नाम लिया। बाकू ? नहीं, पन्तजी ने कहा, इतना समय नहीं होगा। आलमाटा ? लेकिन पन्तजी ज्यादा घूमने-फिरने के पक्ष में नहीं थे। वह अक्सर कहते थे, 'मैं किसी समाज व देश को सूँघ कर भी अच्छी तरह पहचान सकता हूँ।' उनमें स्थूल दृष्टि से बहुत कुछ देखने या व्यक्तिगत रूप में किसी को अथवा किसी चीज़ को अपनाने की प्रवृत्ति का अभाव है, लेकिन मैं ? मुझे अपनी चमड़े की आँखों का बहुत सहारा लेना पड़ता है। उन-सी अन्तर-दृष्टि या आसक्त उदासीनता पाता तो प्रकाशक होता ? कवि न होता ? मेरे अनुरोध को लेकिन पन्तजी ने कभी टाला नहीं। "आप भी बच्चों की-सी बातें करते हैं। ख़ैर, चलिए कीव भी हो आयेंगे।"

## पुराने मुलाक़ाती चेलिशेव

फ्रेंडशिप सोसायटी से हम लोग मास्को देखने के लिए निकले। इस बीच मिस्टर चेलिशेव आ पहुँचे थे। हिन्दी-साहित्य और साहित्यिकों के अन्तरंग। भारत में इनका आना-जाना बराबर बना रहता है, मास्को की एशियन इंस्टिट्यूट में हिन्दी के अध्यापक हैं। लखनऊ में इनकी यात्रा का हाल 'धर्मयुग' में छप भी चुका है। इनके छोटे लड़के डीमा से हमारी ख़ूब दोस्ती हो गयी—तपाक से हाथ जोड़कर कहता था—नमस्ते। मिस्टर चेलिशेव की पन्तजी से और मुझसे पुरानी मुलाक़ात थी, इन्हीं ने पन्तजी की कविताओं का रूसी में अनुवाद किया है—निरालाजी की भी, अन्य भी अनेक कविता-संग्रहों, उपन्यासों और हिन्दी-साहित्य के इतिहास का। मिस्टर चेलिशेव ने कहा—अब मैं भी एक लैंडलॉर्ड बन बन गया हूँ ; मेरा अपना मकान (डाचा) मास्को से लगभग 40 मील की दूरी पर बन रहा है। नक़्शा मेरी पत्नी ने ही बनाया है जो कि एक इंजीनियर हैं। रूस के किसी शहर में निजी भू-सम्पत्ति नहीं बनायी जा सकती, लेकिन एकेडेमियाँ, ट्रेड यूनियनें, राइटर्स यूनियनें, प्रकाशन-गृह अथवा किसी भी तरह तरह का कार्य करने वाले लोगों के संघ शहर से बाहर, सरकार से अपने प्रमुख कार्यकर्ताओं को अपना निजी मकान बनवाने के लिए ज़मीन दिला सकते हैं।

## क्रेमलिन में 'गुम' 'सुम'

मिस्टर चेलिशेव और इरीना के साथ हम क्रेमलिन देखने के लिए गये। क्रेमलिन ! रूस की राजधानी के इसी भाग से तो हम सर्वाधिक परिचित थे। सोचा था—ख़ूँख़ार, और अस्त्र-शस्त्रों से लैस सिपाही पहरे पर होंगे, जगह-जगह पर फ़ौजी बन्दूकें ताने खड़े होंगे। बचपन से क्रेमलिन में हो रही या उसके कारण अन्यत्र हो रही ख़ून-ख़राबी और दमन-अत्याचार की कहानियाँ पढ़ते-पढ़ते उसका एक ऐसा चित्र मन में बैठा हुआ था।

ज़ारों के वक़्त क्रेमलिन अवश्य निरंकुशता और जन-विरोधी शासन का प्रतीक था। शायद स्तालिन के दिनों में भी? लेकिन आज क्रेमलिन में हज़ारों लोग टहलने के लिए जाते हैं—उसमें एक विशाल म्यूज़ियम है, एक थियेटर है जिसे क्रेमलिन-थियेटर कहते हैं। शाही गिरजाघर है, जहाँ ईसा और वर्जिन मेरी के सोने की परत चढ़ी मूर्तियाँ और अन्य देवी-देवताओं के स्वर्णखचित चित्र देखने के लिए बहुत लोग आया करते हैं। क्रेमलिन में एक पैलेस ऑफ़ कांग्रेसिज़ भी है, जहाँ कि महत्वपूर्ण राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय सभा-सम्मेलन हुआ करते हैं। क्रेमलिन में रूस के शासन का केन्द्रीय कार्यालय भी है। इसके साथ ही बँधे हुए किनारों में मास्को दरिया वहता है। क्रेमलिन की सड़क के एक ओर देवदार के दरख़्तों की शोभा दर्शनीय है।

क्रेमलिन के म्यूज़ियम में ज़ारों के सोने, चाँदी और क़ीमती पत्थरों से जड़े हुए वहुमूल्य कपड़े, सिंहासन, मुकुट, रथ, अस्त्र-शस्त्र, खाने-पीने के वरतन, पूजा-पाठ के सामान रखे हुए हैं, जिनके कला-पक्ष के महत्व को अनेक गाइड्स दर्शकों की भीड़ को समझाती रहती हैं। ज़ारों को उनकी सत्ता की वढ़ी हुई शान के दिनों में यूरोप के विभिन्न शासकों से भेंट में मिले हुए चकाचक और क़ीमती तोहफ़े। म्यूज़ियम देखने के वाद हम चारों वाज़ार की एक झाँकी देखने के लिए निकल गये—रेड स्क्वायर को पार करते ही सामने था, यहाँ का सवसे बड़ा डिपार्टमेंटल स्टोर जहाँ हरेक चीज़ मिल जाती है—'गुम'। एक-दूसरे वड़े स्टोर का नाम है 'सुम'। पन्तजी कहा करते थे, 'गुमसुम'। सारे स्टोर में घूम आने की ताक़त और धैर्य हममें नहीं था, यद्यपि इच्छा होती थी विभिन्न रंगों के, विभिन्न फ़ैशनों के, ऊनी, रेशमी और सूती कपड़ों को देखने की। फ़ैशनेबुल घड़ियाँ, घरेलू उपयोग के सभी प्रकार के बिजली के सामान। विजली का शेविंग रेज़र चमड़े के वाक्स में, 14 रूबल। विश्वविख्यात वढ़िया वोडका $2\frac{1}{2}$ से 3 रूवल। शैम्पेन 4 रूवल। बच्चों के लिए फ़िज़िक्स के सौ परीक्षण करने के गत्ते के डिब्वे में वन्द खिलौना 4 रूवल। इसमें नन्हा-सा असली डाइनामो बनाने के कलपुर्ज़े भी हैं; 7 वीं जमात का कोई लड़का जितनी फ़िज़िक्स स्कूल में पढ़ेगा, उसके कुल परीक्षण स्वयं घर पर कर सकता है। थियेटरों, सर्कसों में टिकट की दर 50 कोपेक से 3 रूबल, जूते 15 से 20 रूबल।

## कठपुतलियों का नाच

शाम को हम 'पपेट थियेटर' में कठपुतलियों का प्रदर्शन देखने गये। कठपुतलियों का नृत्य, अभिनय और ऑपेरा भी इतना दिलचस्प हो सकता है? प्रोग्राम-चालक एक कठपुतले ने कहा—हम मनुष्य नहीं है, केवल कठपुतलियाँ हैं, फिर भी मानवी सहानुभूति के याचक हैं। जिप्सियों का नाच और गायन, पश्चिम

के टैंगो-नृत्य की पैरोडी, कठपुतलियों का सर्कस। कठपुतले ने कहा—खाल के खोल ओढ़े ये दीख पड़ने वाले सिंह पिंजरे में बन्द हैं, जहाँ वे मनुष्यों से उनकी रक्षा कर रहे हैं। गहरी लाल रंग की लिपस्टिक लगाये, घुटनों से ऊँची स्कर्ट पहने नवयौवना कठपुतली को जब ड्रेन-पाइप पतलून पहने एक युवक मिला तो उसके मन की बात को ताड़ते हुए वह बोली—मैं प्रार्थना के लिए गिरिजाघर की ओर जा रही थी। उसने कहा—मैं भी, और उसे अपने आलिंगन में ले लिया। कठपुतलों के नृत्य-अभिनय की कला गज़ब का स्तर पा चुकी है। टिप्पणियाँ कमाल की थीं—नर्तक कौन? जो हाथों की जगह पाँवों से काम ले! थियेटर के तीन-तल्ला गलियारों में दुनिया-भर की कठपुतलियों का म्यूजियम था, जहाँ देश-देशान्तर से इकट्ठे किये गये नमूने प्रदर्शित थे—चित्र भी। रूस में कला केवल मनोरंजन का ही नहीं, जीवन, समाज और राजनीति को परिष्कृत करने का साधन भी है। थियेटर की समाप्ति पर स्टेज-पिट से पहले तगड़े-चौड़े हाथ वाहर निकले, फिर सबके सब कलाकार, जो उन कठपुतलियों में प्राण भर रहे थे, भावाभिव्यक्ति के लिए उन कठपुतलियों की भौंहों और मूँछों तक का परि-चालन करते थे। देर तक दर्शक ताली वजा-वजाकर उनका अभिनन्दन करते रहे।

### पंतजी के केशों पर रूसी चित्रकार मुग्ध

सिगरेट पीने की अपनी हविस को पूरा करने के लिए इंटरवल में वाहर आया तो पन्तजी भी साथ आ गये थे। उनकी सौम्य मुखाकृति और लम्बी केशा-वली पर एक रूसी कलाकार मुग्ध हो गया—उसने अँग्रेज़ी में पन्तजी से प्रार्थना की कि वह उसे अपना एक चित्र वनाने दें। हाथ की फुर्तीली गति से और कोयले की पेंसिल के कुछ रेखांकनों से ही पन्तजी उसके वड़े ड्राइंग पेपर पर उतर गये, हू-व-हू। चित्र पर उन्होंने हस्ताक्षर किये। तारीख़ डाली। कलाकार कई वर्ष लन्दन रहा था अँग्रेज़ी अच्छी बोल लेता था। जव पन्तजी का चित्र वन रहा था, अनेक रूसी युवक-युवतियाँ इन दो कलाकारों को घेरकर खड़ी हो गयीं।

होटल पहुँचे तो श्री पूर्ण सोमसुन्दरम्, श्री राधेनाथ दुवे, मधु और उनकी पत्नी आयी हुई थीं। तीनों तीन-चार वर्ष से मास्को में हैं, रेडियो और विदेशी भाषा प्रकाशन-गृह में काम करते हैं—एक तमिल-भाषी, दुवेजी उत्तर प्रदेश के और मधु-दम्पत्ति पंजावी हैं। सभी रूसी अच्छी तरह सीख गये हैं। मधुजी का छोटा वालक मास्को में ही जन्मा है, रूसी ही उसकी मातृभाषा है! सोम-सुन्दरम्‌जी ने एक रूसी युवती से विवाह किया है। भारतीय और रूसियों में यह मेलजोल!

जव खाना खाने गये तो ओस्तांकिनों के रेस्तराँ का वैण्ड जैज की जगत्प्रसिद्ध

ट्यूनें वजा रहा था ; वीसियों रूसी युवक-युवतियाँ जैज की कभी धीमी, कभी तेज़ स्वर-लहरी पर डांस कर रहे थे। 'रॉक एन रोल' नृत्य के लिए ट्यूनें भी वजीं। लेकिन 'रॉक एन रोल' के माहिर तो अमरीकी हैं ; एक भी रूसी जोड़ा अपने नृत्य में वह तेज़ी और फुरती नहीं ला सका जो कि इस नृत्य की विशेषता है। इरीना से मैंने कहा—'मास्को में रॉक एन रोल ?' 'क्यों नहीं, इसके आपत्तिजनक पक्षों को छोड़कर इसे अपना लेने में दुविधा होनी चाहिए ? इसमें कितनी गति है और कितनी लय है ? आप ही पाँव थिरकने लगते हैं।' लेकिन मैंने कहा, 'अभी तो पपेट थियेटर में हम इस नृत्य का मज़ाक देखकर आये हैं।'

वह भी देखा, यह भी देख !

जव सुवह उठे थे, गहरी धुन्ध छायी हुई थी, जो प्रायः दिन भर घिरी रही। टेम्परेचर आठ डिग्री सेंटीग्रेड था। दिल्ली में क्या होगा ? शाम तक धुन्ध उठ गयी थी। होटल के कमरे का टेम्परेचर वाईस डिग्री था। सो, हम मास्को के अपने कमरे में अपने गद्देदार पलँगों पर दिल्ली के टेम्परेचर में पसर गये।

रविवार का प्रातःकाल भी धुन्ध की चादर को लपेटे हुए उठा, वर्फ़ीली हवा वह रही थी। सोवियत उपलब्धियों की स्थायी प्रदर्शनी देखने का आज कार्यक्रम था। सोवियत कृषि, उद्योग और विज्ञान की प्रगति की एक झाँकी इस विशाल प्रदर्शनी से मिल जाती है। रूस के 15 राज्यों के अपने बड़े-बड़े हॉल है। उनके जीवन के सभी पहलुओं की प्रगति का नक़शों, चित्रों और मानचित्रों एवं मॉडलों द्वारा परिचय दिया जाता है। निपुण गाइड्स! "शान्ति के लिए ऐटम्स" हॉल में गाइड ने हमें एटॉमिक विज्ञान की वारीकियाँ सुवोध भाषा में समझायीं; इस गाइड को साहित्य और पुस्तकों की भी वैसी ही जानकारी थी। सोवियत-शिक्षा की यह विशेषता है; इससे एक वैज्ञानिक महज़ विज्ञान का ज्ञान ही नहीं, साहित्य और कला का भी ज्ञान पाता है। कला, साहित्य और सामाजिक शास्त्रों के विद्यार्थी विज्ञान से अपरिचित नहीं रह पाते। 24 घंटों में दुनिया के 19 चक्कर लगाने वाले तितोव को अन्तरिक्ष-यात्रा के पूर्व के कठिन परीक्षणों में जव एक सील्ड कमरे में वन्द कर दिया गया, तो वह भावातुर होकर पुश्किन की एक कविता गाने लगे। एक आश्चर्यप्रद वातावरण है; इस सभ्यता की जड़ विज्ञान है लेकिन यह पुष्पित हुई है कला और साहित्य की फूल-पत्तियों से।

वड़ी सरदी थी, यद्यपि प्रदर्शनी के हॉलों के बाहर ही। बीचोंबीच एक बड़ा फ़व्वारा है, जिसके चारों ओर अपने-अपने राष्ट्रीय केश और वेशभूषा में 15 राज्यों की वालाओं की मूर्तियाँ खड़ी हैं। पानी में इतनी ठंड में। एक सिहर शरीर को कँपा गयी, यद्यपि वनियान, उस पर ऊनी गर्म बनियान, कमीज़, स्वेटर, कोट और ओवरकोट पन्तजी ने और मैंने पहन रखा था और यह देखकर

भी कि रूसी बच्चे, जवान और बूढ़े आइसक्रीम के कोन्स ख़रीदकर खा रहे थे। निकालकर सिगरेट सुलगायी। गाइड ने कहा—माफ़ कीजिये, एक मुझे भी। 'पाजालास्ता,' मैंने कहा, 'प्लीज़ लीजिये और मुझे माफ़ कीजिए, मैंने पहले नहीं पूछा।' स्पसिवा। मैंने एक कोपेक की 'स्पीचकी'—दियासलाई की एक सलाई से उसके मुँह में रखी 'द्रुग' सिगरेट सुलगा दी। इरीना सिगरेट नहीं पीती थी, मुझसे कहती थी, 'इतनी ज्यादा नहीं पीनी चाहिये, नुकसान पहुँचाती है।' 'तो तुम मुझे ख़रीद ही क्यों देती हो, 'द्रुग' और 'त्रोयका' को 20-20 सिगरेटों के दो-दो पैकेट?' रूसी सिगरेटें बड़ी कड़ी होती हैं, अपेक्षातर ये दो क़िस्में मॉडल्ड थीं; मैंने उन्हें ही अपना लिया था।

## स्तालिन का मक़बरा

प्रदर्शनी से बढ़े रेड स्क्वायर के मॉसोलियम की ओर। रूस में इससे अधिक पवित्र कोई स्थान नहीं माना जाता। द्वार के दो फ़ौजी प्रहरी दो-दो घंटों की ड्यूटी देते हैं—ड्यूटी-परिवर्त्तन की डिसिप्लिनपूर्ण रस्म देखने लायक़ होती है। यहाँ काले, चिकने पत्थर की ठोस चौकोर इमारत के नीचे लेनिन और स्तालिन के सुवस्त्रित, सुसज्जित कमरे के नीचे ढके हुए शव शीशे की कफ़नगाह में रखे हुए थे। जीवित, प्रतापी शव! लेनिन का लम्बा-चौड़ा ललाट। हाथ छाती पर। स्तालिन के कोट पर अनेक मेडल; उसके हाथों की एक-एक नीली रग उभरी और स्पष्ट थी; पकी हुई, गँवई मूँछें।

यूरोप की यात्रा से पहले मॉसोलियम देख गये थे, इसी से लेनिन और स्तालिन दोनों को देख सके। जब तक 2 नवम्बर को फिर मास्को पहुँचे तो स्तालिन का शव मॉसोलियम के पीछे की किलेनुमा दीवार के साथ, रूस के अन्य महान नेताओं की क़ब्रों की पंक्ति में दफ़नाया जा चुका था—प्रेसीडेंट कालिनिन की बग़ल में। स्तालिन की निरंकुश नीतियों की पार्टी कांग्रेस में कड़ी आलोचना की गयी थी—उसकी व्यक्तिवादी प्रभुत्व की प्रवृत्ति की भर्त्सना हुई थी। स्तालिन के बारे में लोग अक्सर कहते थे—हमारे देश के निर्माण में स्तालिन का महत्वपूर्ण हाथ रहा है, लेकिन उसका विश्वास सर्वहारा वर्ग के तानाशाही राज्य में शायद अधिक था, सर्वहारा वर्ग के जनतन्त्री राज्य में कम। उसने अपने व्यक्तित्व का झण्डा राज्य, पार्टी और जनता से कहीं ऊपर उठाया। लेनिन ही मार्क्स के दर्शन को कार्यान्वित करने की सफल योजनाएँ बनानेवाला हमारा महान पथ-प्रदर्शक है—स्तालिन का उस महान नेता से क्या मुक़ाबला!

लोग विदेशियों से खुलकर बातें करते हैं। स्तालिन के ज़माने में क्या यह सम्भव था? पन्तजी और मैं कई एक रूसियों के घर गये —मैं अक्सर ख़रीद-फ़रोख़्त के लिए अकेला निकल जाता था—दो-चार शब्दों के सिवाय रूसी

ज़बान से एकदम अनभिज्ञ। स्पसिवा और पाजालस्ता। वद यानी उदक (वोडका इसी से बना है)। सोल यानी नमक। अगुन यानी अग्नि। म्योद यानी मधु। द्वी यानी दो। त्री यानी तीन। चतीरी यानी चार। 'या म्यास नियेम' यानी मैं मांस नहीं खाता। शुरू-शुरू में कहता था—'या म्यासा न्येत,' जिसका अर्थ है—'मैं मांस नहीं हूँ।' इतना वड़ा हाड़-मांस का लोथड़ा! लोग क्यों मुसकरा पड़ते थे, यह तो एक बार मुझसे सुनकर गोपेशजी ने वताया।

दूकान में ख़रीदारों की भीड़ मेरे चारों ओर जमा हो जाती थी—सहायता करने को परम उत्सुक। किसी के पल्ले कुछ नहीं पड़ता था, मैं क्या माँग रहा हूँ। मैं चाहता था—राइटिंग-पैड और इशारे से लिखने की बात करता था। अँग्रेज़ी में, कभी हिन्दी में, कहता था। उसने दिखलाया कभी कलम, कभी स्याही, कभी निव, कभी एक कागज़मात्र। काउण्टर के पीछे खड़ा भला रूसी समझा कि अबकी बार मैंने इस सुदूर भारत से आये भले आदमी का मन्शा ताड़ लिया और तब निकाल लाया—रबर। मुझे सिर हिलाते हुए देखकर वहुत निराश हुआ। तब एक रूसी वाला को, जो उसी स्टोर में काम करती थी, कुछ सूझा और वह भीड़ को चीरकर कुछ कहती हुई तेज़ी से दुतल्ले की ओर चली गयी। कुछ ही देर में एक प्रौढ़ा को लेकर वह लौटी, जो अँग्रेज़ी जानती थी। मुझे राइटिंग पैड मिल गया, नीली मख़मल से मढ़ा हुआ, गत्ते के वाक्स में, सांताक्रुज की शक्ल से एम्ब्रॉस्ड बढ़िया कागज़ और लिफ़ाफ़े। वाला एक तरफ़ खड़ी होकर मुसकरा रही थी।

स्तालिन के वक़्त में मेरे पीछे सीक्रेट पुलिस तैनात हो जाती। क्या पन्तजी और मैं क्रेमलिन में घूम सकते थे? क्या हम मनचाहे किसी होटल या रेस्तराँ में खाना खाने के लिए जा सकते थे? या मानव-मन के गहन अन्धकारपूर्ण क्षेत्रों के पर्यटक दस्ताएवस्की के उपन्यासों का अनुवाद छप सकता था? क्या पार्टी और प्रिज़ीडियम से निकाले गये वोरोशिलोव 7 नवम्बर के उपलक्ष्य में क्रेमलिन में हो रही भव्य पार्टी में उपस्थिति रह सकते थे—अन्य नागरिकों की भाँति?

चीन के भारत के प्रति रुख़ पर अक्सर बात होती थी। उत्तर मिलता था—हम जानते हैं, चीन की पार्टी डाग्मैटिस्ट रुख़ अख़्तियार किये हुए है। वह ग़लत है, यद्यपि उसका ध्येय अपनी जनता का सुख-संवर्द्धन करना ही है। वहुत से ऐसे तौर-तरीके, जिन्हें कभी हमने भी अपनाया था और कभी का छोड़ भी चुके हैं, वह अब अपना रही है। ख्रुश्चेव द्वारा बल्गारिया की पार्टी और शासन की खुलेआम टीका-टिप्पणी से नाराज़ होकर चाऊएन-लाई मास्को से लौट गये। हमसे कहा गया, क्या आपको मालूम है कि स्तालिन की मृत्यु के बाद एक बार भी माओत्से-तुंग स्वयं मास्को नहीं आये? हम भारत से गहरी दोस्ती चाहते हैं। हम चाहते हैं कि आपकी पंचवर्षीय योजनाएँ सफल हों; आप अपने

रास्ते से अपनी जनता के सुख-दुख को पहचानें; हमसे जो मदद बन पड़ेगी, वह हमेशा देने को तैयार हैं।

रविवार की सायं को होटल ओस्ताकिनों में रहने वाले 25 भारतीयों की एक मीटिंग पन्तजी के स्वागत में हुई। सबने अपना परिचय दिया—जमशेदपुर' कलकत्ता, मद्रास, बेंगलौर, पंजाब—कहाँ-कहाँ के इन्जीनियरिंग के विद्यार्थी या कल-कारखानों के प्रतिनिधि थे, सभी हिन्दी में बोले। यह रूस के वातावरण का प्रभाव था। पढ़ा-लिखा भारतीय तो केवल अँग्रेज़ी में ही बात करता है। किसी ने एक मजेदार चटकुला सुनाता—हिन्दी भाषा एक रूसी इन्जीनियर रूस की सहायता से लगाये गये भिलाई के कारख़ाने में काम करके जब दो वर्ष बाद रूस लौटकर आया तो अपने साथियों से बोला—मैं भारत जाकर अपनी सारी हिन्दी भूल आया हूँ। वहाँ तो सभी मुझसे अँग्रेज़ी में बातचीत करते थे—हिन्दी में कोई बात नहीं करता था। लेनिनग्राड में सैकड़ों रूसी बालक-बालिकाओं को हिन्दी की शिक्षा देने वाले स्कूल के मुख्याध्यापक ने कहा—जो बच्चे हिन्दी पढ़ते हैं, उन्हें हमें अँग्रेज़ी भी पढ़ानी पड़ती है। ये जब बड़े होकर भारत आया-जाया करेंगे तो अँग्रेज़ी के बिना क्या करेंगे? आप लोग तो अँग्रेज़ी को छुट्टी ही नहीं देना चाहते। मुँह पर तमाचा मारे बिना उसे शर्म से लाल कर देने के लिए यह सहज टिप्पणी हमारे लिए पर्याप्त थी।

पन्तजी ने अपनी कविताएँ सुनायीं—बड़ा आनन्द रहा। मालूम पड़ा जैसे हम भारत से इतनी दूर नहीं चले आये हैं। भारत हमारे पास, हमारे साथ ही है। आज प्रीतनगर के नवतेज सिंह मिले थे—रूसी बोलने लगे हैं—खूब घूम रहे हैं। गोपेशजी सारा दिन साथ ही रहे और रात को जब हमने लेनिनग्राड के लिए गाड़ी पकड़ी तो स्टेशन तक पहुँचाने आये।

## 'लाल तीर' पर लेनिनग्राड

गाड़ी का नाम था 'रेड ऐरो'—लाल तीर, एक्सप्रेस गाड़ी। सारी गाड़ी हीटेड, लेकिन क्लासें तीन थीं। तीनों में सोने के लिए विस्तर मिल जाते हैं। फ़र्स्ट-क्लास डिब्बों में दो-दो बर्थों का कूपे होता है। पन्तजी और मैं एक कम्पार्टमेंड में थे, साथ के में इरीना। कम्पार्टमेंट में ट्यूब-लाइट्स, नीली रोशनी की नाइट-लाइट, मेज़ पर टेबल-लैंप, छत पर अलग से लाइट्स थीं, सब जला लेने पर कमरा जगमग कर उठा। छत की एक ओर रेडियो का स्पीकर था, जिससे संगीत और गायन के स्वर देर तक झरते रहे; न चाहने पर रेडियो बंद किया जा सकता था। बर्थों पर मोटे-मोटे गद्दे, सफ़ेद चादर, खूब गहरा गुदगुदा तकिया, गिलाफ़ में लिपटा कम्बल था। हीटिंग के कारण, बाहर की बड़ी ठण्ड के बावजूद एक ही कम्बल काफ़ी सिद्ध हुआ। हर बोगी के बाहर एक कंडक्ट्रेस टिकटें चेक

कर लेती है, फिर कोई चेकिंग नहीं होती। प्लेटफ़ार्म पर आने के लिए कोई टिकट नहीं लेना पड़ता। स्टेशनों पर फिर भी कोई भीड़ नहीं होती।

चाय के हमारे चस्के की ख़बर इरीना द्वारा कंडक्ट्रेस को मिल चुकी थी—वह रात को भी चाय पिला गयी। अगले प्रात:काल सात बजे भी ले आयी। पन्तजी अपने ध्यान और नित्य कर्म से छुट्टी पा चुके थे। शीशे की खिड़की के बाहर रूस का ग्रामीण भाग दीखने लगा—सुव्यवस्थित गाँव, अलग-अलग मकान, प्रत्येक मकान के साथ वाड़े में कुछ ज़मीन। दरख़्तों की हरियाली ग़ायब हो चुकी थी, और कहीं-कहीं रुण्ड-मुण्ड पेड़ों के झुण्ड-के-झुण्ड दीख पड़ते थे। अनेक मकान लकड़ी के थे; लकड़ी की ही छतें थीं। रेडियो और टेलीविज़न के एरियल उनके ऊपर प्राय: लगे हुए थे। बिजली तो रूस के हर गाँव में पहुँच चुकी है। रूस की प्रगति के लिए लेनिन ने जो पहला ख़ाका बनाया था, बिजली के उत्पादन का उसमें सर्वोपरि स्थान था।

## बारान्निकोव, कालिदास जयन्ती और हिन्दी

नौ बजे 'लाल तीर' लेनिनग्राड के प्लेटफ़ार्म पर जाकर लगा, एक पूर्व-परिचित चेहरा दीखा, मिस्टर प्यौत्र बारान्निकोव का। बारान्निकोव कई वर्ष तक भारत में रह चुके थे—वही बारान्निकोव जो उज्जैन में कालिदास जयन्ती के अवसर पर हो रहे एक सम्मेलन से इसलिए विरोधस्वरूप उठ आये थे कि वहाँ भाषण हिन्दी में न होकर अँग्रेज़ी में हो रहे थे। हिन्दी के भाषा व साहित्य से सुपरिचित थे। हिन्दी-ग्रन्थों का उनका निजी बड़ा संग्रह उनके घर में है। उनकी हँसमुख पत्नी रिम्मा उनके समान ही हिन्दी-प्रेमी हैं, एक स्कूल में बच्चों को हिन्दी पढ़ाती हैं। मुहावरेदार हिन्दी के प्रयोग में चुस्त हैं। उसके घर जब मिर्च वाली वोडका (जिसे गोरिल्का कहते हैं) मैंने चख ली, तो धीमे से उसने पूछा, 'क्या बहुत चढ़ गयी ?'

साथ में हमें लिवाने के लिए आये थे इंस्टिट्यूट फ़ार एशियन स्टडीज़ में संस्कृत के अध्यापक मिस्टर कल्यानोव। 'कल्याण मित्र' अपने को कहते हैं। प्रौढ़ उम्र के इस विद्वान का भारतीयों और संस्कृत के प्रति जोश देखने की चीज़ थी। इरीना के पुराने परिचित थे। बारान्निकोव का मज़ाक इरीना में गुदगुदी पैदा कर देता था और वह ज़ोर से हँस पड़ती थी—'अब तुम आयी हो तो प्रोफ़ेसर कल्यानोव कहीं दूर नहीं जा सकते।' संस्कृत के श्लोक और सूक्तियाँ खूब दुहराते थे—पन्तजी को अपनी एक पुस्तक भेंट की और उस पर संस्कृत में उनके प्रति अभिनन्दन वाक्य लिखा। कहते थे, "मैं मज़े में अनुष्टुप छन्द के श्लोक गढ़ लेता हूँ।"

और मिस्टर पुचाकोव, फ्रेन्डशिप सोसायटी की स्थानीय शाखा के एक मंत्री

थे। उन्हें हमारे प्रति (भारतीयों के प्रति) अपनी सद्भावना को, परम सौहार्द के भाव को 'कहना नहीं' पड़ा, वह उनके चेहरे से झलकता था, हाथ मिलाने में उनके पंजे की मज़बूत पकड़ में स्पष्ट होता था। मस्त जीव, लेकिन कर्तव्य में तत्पर; मुझे यह नवयुवक बड़ा अच्छा लगा। यहाँ की फ्रेंडशिप सोसायटी की प्रधान भी एक बड़ी उम्र की महिला थीं। मैंने पुचाकोव से कहा, 'तुम्हें भी स्त्रियों की अधीनता में काम करना पड़ता है?'

'देखिये हमारी किस्मत', उसने बाँहें फैलाकर कहा, 'घर में भी स्त्रियों का राज्य, बाहर भी उनकी हुकूमत!' और एक शरारत-भरी मुसकराहट उसके जवान चेहरे पर खिल गयी।

'होटल यूरोप' में हम ठहरे। रास्ते की चौड़ी सड़कों को पार करते हुए देखीं बड़ी-बड़ी दूकानें, सब प्रकार के साज़ोसामान में सजी हुई।

## जहाँ अक्तूबर क्रांति की पहली चिनगारी फूटी

नाश्ता करके हम शहर देखने के लिए निकले। ज़ारों का निवास-स्थान 'विन्टर पैलेस'—जहाँ कि अक्तूबर क्रांति की पहली चिनगारी फूटी थी; वह फ़ौजी मोटरगाड़ी जिसके कॉकपिट में खड़े होकर लेनिन सैनिकों के सामने भाषण दिया करता था; वह घड़ी जो लेनिन की मृत्यु पर रोक दी गयी थी और जिसकी सुइयाँ आज भी उस क्षण का समय बताती हैं। बाल्टिक-सी के तट पर बसा यह शहर अरसे तक रूस की राजधानी रहा है—आज भी लकड़ी का वह छोटा-सा मकान बदस्तूर खड़ा है, जिसमें पीटर द ग्रेट रहता था और पीटर्सबर्ग या बाद के पेट्रोग्राड को दुनिया के नामी शहरों में बेहतर बनाने की योजनाएँ बनाया करता था। शहर के बीचोंबीच नीवा दरिया बहता है—इसमें 'आरोरा' नाम का क्रूज़र अब भी खड़ा है, जिसने क्रांति की शुरुआत तोप का पहला गोला दाग़ करके की थी। यह वीर शहर गत महायुद्ध में जर्मन फ़ासिस्टों के क्रूर हमलों और घेरे के बावजूद नहीं झुका। इसे 'ऑर्डर ऑफ़ द रेड बैनर' और दो बार 'ऑर्डर ऑफ़ लेनिन' की उपाधियाँ प्राप्त हो चुकी हैं, जिन पर लेनिनग्राड के प्रत्येक वासी को गर्व है। इस शहर के 6 लाख से अधिक नागरिक जर्मन घेरे के दिनों में भूख और ठण्ड की इन्तिहा से चल बसे थे—इनकी स्मृति में बना समाधि-स्थल मन में करुणा और एक विचित्र प्रकार के साहस को एक साथ जगा देता है। इस समाधि-स्थल के प्रवेश-स्थान के दोनों ओर बड़े दो कमरे हैं, जिनमें युद्ध के दिनों के भयावह चित्र टँगे हुए हैं—भूख से जर्जर कंकाल, आक्रमकों के विरुद्ध लड़ते हुए नागरिक और सैनिक, बमों और आग से ध्वस्त इमारतें! नौ-वर्षीया तान्या सविचेवा नाम की एक बच्ची की डायरी के पृष्ठों के चित्र! बच्ची की टेढ़ी-मेढ़ी हस्तलिपि, लेकिन जिस सत्य को वह अपने अबोध हाथों से अंकित कर गयी, उसके लिए सधे

हुए हाथ की ज़रूरत नहीं थी।

"आज जेन्या मर गयी, 12-30 बजे। 28-12-41

लेका चल बसा, 5 बजे शाम। 17-3-42

अंकल वास्या आज नहीं रहे, दोपहर बाद 2 बजे। 13-4-42

मां भी मर गयी। सुबह 7-30 पर। 13-5-42।

सारा परिवार मर गया। सभी लोग मर गये। केवल तान्या ज़िन्दा है।"

तान्या ने एक के बाद एक अपनी बहन, भाई, चाचा और माँ को भूख से तिलमिलाकर प्राण देते हुए देखा और एक छोटी-सी नोटबुक में अपने पास मँडरा रही मौत की पदचाप का समय नोट करती रही। पढ़कर, और उसके हाथों की इस डायरी के पृष्ठों के चित्र देखकर एक बार रोमांच हो आया—यह है युद्ध की विभीषिका या यथार्थ!

अन्दर फूलों की प्रतीक्षा में फैली क्यारियों के दोनों ओर उन लाखों लोगों की क़ब्रें हैं, जिन्हें इस सामूहिक क़ब्रिस्तान में दफ़नाया जा चुका है। अन्त में, ठोस पत्थर की मोटी दीवारें हैं, जिन पर लेनिनग्राड की रक्षा में लड़ने वालों की वीरता के चित्र उत्कीर्ण हैं और यहाँ के एक प्रसिद्ध कवि के शब्दों में लिखा है—"जो इन पत्थरों की आवाज़ सुन रहे हैं, याद रखें, कोई नहीं भूलता, और कुछ नहीं भुलाया जाता!" एक सिहर दौड़ गयी, शरीर और मन में।

लौटकर पन्तजी आराम करना चाहते थे—वह जल्दी ही थक जाते हैं। उम्र का तकाज़ा है, और फिर चलने-फिरने का अभ्यास नहीं है।

लेकिन इरीना ने आराम का समय नहीं दिया—राइटर्स यूनियन को उनके आगमन की सूचना दी जा चुकी थी, उनसे समय तय हो चुका था। खाना खाने के तुरन्त बाद ही वहाँ गये। 'स्टार' और 'नीवा' नाम की मासिक व साहित्यिक पत्रिकाओं के दो सम्पादक, एक कवि, तथा सोवियत राइटर पब्लिशिंग-हाउस के डायरेक्टर वहाँ अन्य के अतिरिक्त उपस्थित थे। पन्तजी ने मुख्य रूप से यह जानना चाहा—रूस की कविता में कौन-कौन-सी नयी प्रवृत्तियाँ देखने में आ रही हैं?

## सोवियत रूस में नयी कविता

पन्तजी ने पूछा, 'क्या रूस की कविता में छन्द का उपयोग त्याग दिया गया है?' उत्तर मिला कि छन्दहीन कविता के प्रयोग देश में बहुत पहले हुए थे; तुर्गनेव और गोर्की ने भी छन्दहीन कविता की थी। आज की रूसी कविता में छन्द और लय को सम्मिलित करने की प्रवृत्ति है। ऐसे कवि भी हैं जो नये-नये प्रयोग कर रहे हैं, छन्द का प्रयोग नहीं करते, लेकिन पाठकों को वे नहीं रुचते। कवि अपने लिए ही नहीं, आम जनता के लिए अपने गीत गाता है; अपने पाठकों की रुचि

के प्रति उसे उत्तरदायी होना ही पड़ता है। नये नवयुवक कवि अपनी छन्दहीन कविताओं के द्वारा पाठकों को अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सके। कविता का और अन्य साहित्यिक रचनाओं का भी आधार है, समाजवादी यथार्थवाद। रचना-वस्तु जीवन के जितनी समीप रह सके, कृति उतनी उत्कृष्ट समझी जाती है।

'क्या नये प्रयोग करने वाले कवियों की कृतियाँ प्रकाशित हुईं?'

'हुईं।' वोस्नियांस्की इचेव तुशेन्कोव नाम का एक तरुण कवि नयी अभिव्यक्ति और नये रूपों की खोज में था। उसके कविता-संग्रह की 25,000 प्रतियाँ छपीं और खप भी गयीं। लेकिन वह सफल नहीं हुआ।

'उसकी असफलता कैसे सिद्ध हुई?'

'प्रत्येक कृति पर देश-भर में फैले पाठक विचार करते हैं—मीटिंगों में, ट्रेड यूनियनों में, मजदूर संघों में, कलाकारों की गोष्ठियों में, कल-कारखानों में।'

'आधुनिक विदेशी कवियों और साहित्यकारों में से किस-किस का अनुवाद रूसी में हो चुका है?'

'इलियट की कुछ कविताओं का एक संग्रह में अनुवाद छपा है, स्टेन्ढाल का भी। आपके देश से धर्मवीर भारती और सर्वेश्वरदयाल सक्सेना की कुछ कविताओं का भी छपा है। मुख्यतया साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित अनुवादों द्वारा ही हमारे पाठक विदेशी कवियों से परिचित होते हैं। रूसी पाठक की रुचि क्लासिकल कविता में प्रमुख रूप से ही है। रूपवाद या प्रतीकवाद जैसा कोई प्रभाव हमारी कविता पर नहीं है। 1920 के लगभग ऐसे प्रयोग हमारे यहाँ हो चुके हैं—अब हमारा साहित्य उन प्रयोगों से कहीं आगे बढ़ चुका है।'

## पुस्तकें और प्रकाशन

मैंने प्रकाशन-गृह के डायरेक्टर से रूस की प्रकाशन-व्यवस्था के बारे में बड़ी दिलचस्प बातें जानीं। मेरी जानकारी यहाँ के प्रकाशन के बारे में यहाँ आने से पहले कितनी भ्रांतिपूर्ण थी!

बिना देखे कैसे मैं जानता, कौन मुझे बताता कि रूस में हजारों प्रकाशन-गृह हैं। लेखक-संघों के प्रकाशन-गृह, साइंस एकेडेमियों के प्रकाशन-गृह, ट्रेड-यूनियनों के प्रकाशन-गृह, विदेशी भाषाओं के साहित्य का अनुवाद छापने वाले प्रकाशन-गृह, रूस की अपनी विभिन्न भाषाओं के अनुवाद प्रकाशित करने वाले प्रकाशन-गृह। साहित्यिक कृतियों को छापने वाले अनेक प्रकाशन-गृह प्रत्येक शहर में हैं। लेनिनग्राड में केवल साहित्यिक रचनाओं को छापने वाले पाँच प्रकाशन-गृह हैं।

रूस में लेखक से सम्पन्न कोई दूसरा जीव नहीं है। उसका दायित्व समाज के प्रति वैज्ञानिकों अथवा इंजीनियरों से कम महत्व का नहीं आँका जाता। वह

'मनुष्यों की आत्मा का इंजीनियर' समझा जाता है और इसलिए उसका आदर है। उसे समाज-विरोधी अथवा समाज में गिरावट लाने वाली कृतियाँ लिखने की स्वतंत्रता नहीं है—यह भी कोई स्वतंत्रता हुई ?

कविता-पुस्तकों के प्रथम संस्करण 2 से 25 हज़ार तक के होते हैं, बाद में उनकी लोकप्रियता के अनुसार। उपन्यास के 15 हज़ार से कई लाख तक होते हैं। अधिक लोकप्रियता के लिए लेखक अपनी रचनाओं में रोमांस या अश्लीलता भरने की कोशिश नहीं करते। उन्हें अधिक समाजोपयोगी बनाते हैं।

लेखकों को पाठकों से निरन्तर सम्पर्क बनाये रखना जरूरी है—वे कल-कारखानों, हाऊसेज़ ऑफ़ कल्चर, सार्वजनिक सभाओं, सैनिकों और विद्यार्थियों की मीटिंगों में जाते हैं और वहाँ अपनी कृतियों के सम्बन्ध में उनके विचार और आलोचनाएँ सुनते हैं।

लेखक-संघ जीवन के विभिन्न पहलुओं का प्रत्यक्ष परिचय प्राप्त करने के लिए अपने सदस्यों को बाहर भेजता है, इसके लिए सब ख़र्च और व्यवस्था स्वयं करता है। प्रकाशन-गृह लेखक-संघ को अपने मुनाफ़े का दसवाँ हिस्सा उसके ख़र्चों के लिए देता है।

शाम का खाना मिस्टर प्यौत्र बारान्निकोव के घर खाया—पन्तजी मुख्य अतिथि थे—शेष मिस्टर कल्यानोव और उनकी पत्नी, इरीना, मिस्टर पुचाकोव और मैं। गृह-स्वामिनी रिम्मा बारान्निकोव तो थीं ही, उनकी परम शर्मीली, दुबली पतली लड़की ओल्गा मुँह छिपाती रही। पुकारने पर आती थी, फिर ग़ायब! वह शाम नहीं भूलेगी। पन्तजी ने कविताओं का पाठ किया जो टेप-रिकार्ड किया गया। मिस्टर पुचाकोव ने मायाकोवास्की की रूसी कविताएँ पढ़कर सुनायीं।

रात को 11 बजकर 45 मिनट पर सोये। पन्तजी बहुत थक गये थे। लेकिन अगली प्रातः इसी प्रकार सारा दिन घूमने-फिरने के लिए वह फिर तैयार हो गये।

मंगलवार, 17 अक्तूबर को देखा लेनिनग्राड का बोर्डिंग स्कूल नम्बर 4। रूस में स्कूलों के नाम नहीं हैं, नम्बर हैं। इस स्कूल के छात्र हॉस्टल में ही रहते हैं, कुल हैं 360, जिनमें 260 चौथी से नवीं क्लास तक हिन्दी पढ़ते हैं। भारत से जाने-माने कवि आये हैं—छात्रों के संक्रामक उत्साह की सीमा नहीं है। सब स्वस्थ, सब चुस्त, भारतीयों की तरह हमें 'नमस्ते' करने को उत्सुक थे! भारतीय बालिकाओं की-सी नाक-नक़्शवाले 9वीं क्लास की एक हँसमुख लड़की बड़ी प्यारी लगी—इरा तरासवा। कटे हुए बाल, भोला चेहरा, मन में एक बार दुहराकर जैसे हिन्दी में बात करती थी, 'मैं पाँच बरस से हिन्दी पढ़ रही हूँ। जी हाँ, अब

कुछ-कुछ बोलने भी लगी हूँ। मैंने पन्तजी की कुछ कविताएँ पढ़ रखी हैं।' स्कूल में चहल-पहल मच गयी थी। हम विभिन्न क्लासों में गये—छोटे-छोटे रूसी बच्चों को हिन्दी का क, ख, ग, पढ़ते-सीखते देखा। पाठ्य-पुस्तकें ताशकन्द में छपी हुई थीं। तीन अध्यापिकाएँ हिन्दी पढ़ाती हैं—एक हैं रिम्मा वारान्निकोवा। हेड-मास्टर साहब हिन्दी नहीं जानते—उनके साथ हम स्कूल में घूमे। गलियारों में भारत की पत्रिकाओं से कटी तसवीरें लगी थीं, यहाँ के विभिन्न नृत्यों की, विभिन्न वेश-भूषाओं की।

कुछ बच्चे अलग नहीं होना चाहते थे, विदा लेने से पहले हेडमास्टर, मिस्टर पुचाकोव और पन्तजी के साथ मैंने स्कूल के दरवाज़े पर उनका चित्र खींचा। इरा तरासवा बहुत चाहती थी कि भारत के कुछ छात्रों से उसका पत्र-व्यवहार हो। मैंने उसका पता भारत लौटकर अपनी बेटी और बेटे को दे दिया।

## ज़ार के विन्टर पैलेस

इस स्कूल के बच्चों का कुछ उछाह लेकर हम हर्मिताज या ज़ारों का विंटर-पैलेस देखने गये। नाम तो हर्मिताज था, लेकिन ज़ार और ज़ारीनाओं की रंग-रेलियों और ऐश-इशरत के सब साधन यहाँ कभी थे। अपना सांस्कृतिक सम्मान दिखलाने के लिए वह देश-विदेश की बहुमूल्य सांस्कृतिक थातियों को इकट्ठा करते रहे—आज उनके सदियों में किये गये संग्रह जनता की सांस्कृतिक निधि हैं। हर्मिताज में कोई 23 लाख विभिन्न वस्तुएँ प्रदर्शित हैं। कुल 1300 कमरे हैं; हर्मिताज की सब चीज़ों को देखने के लिए कुछ सप्ताहों के समय की ज़रूरत है। ठीक बाहर के चौक में एलेक्ज़ेण्डर कालम है, एक ही पत्थर से तराशा हुआ जय-स्तम्भ।

काफ़ी थककर लेनिनग्राड यूनिवर्सिटी की ओरिएंटल फ़ैकल्टी में गये, जहाँ हिन्दी के अनुसन्धान का कार्य होता है। हिन्दी के अनेक नामी विद्यार्थी और अध्यापक वहाँ मिले—मिस नोविकोवा वीरा एलेक्ज़ेंद्रोव्ना, मिस कात्यानिना, मिस इरा त्यूरीना, मिस्टर बोग्दानोव फेलिक्स। पन्तजी के दर्शन पाकर सब धन्य—सभी ने उनके काव्य-संग्रह पढ़-देख रखे थे। मुझसे सभी ने कहा—हिन्दी की नयी-नयी पुस्तकें और पत्र-पत्रिकाएँ भी भेजते रहिये—हमें मिल नहीं पातीं। ओरिएंटल फ़ैकल्टी की बिल्डिंग में प्रवेश करते ही पुस्तकों की एक दुकान मिली, जहाँ श्री इलाचन्द्र जोशी के प्रसिद्ध उपन्यास 'जहाज़ का पंछी' का रूसी अनुवाद मिल गया; उन्हें भेजने के लिए एक प्रति ख़रीद ली। पुस्तक के रूसी नाम का अर्थ था—'भगोड़ा'। इस उपन्यास का नायक एक परिस्थिति से नित्य ही नयी परिस्थिति की ओर भागता रहता है—परिस्थितियों पर क़ाबू पा सकता तो 'भगोड़ा' नाम नहीं होता।

हर कॉलेज और विश्वविद्यालय में किताबों की दूकानें हैं, कई-कई दूकानें, विभिन्न मंज़िलों पर अलग-अलग थीं। शहरों में किताबों की दूकानें और स्टाल इतने हैं, जितने कि हमारे शहरों में रेस्तराँ या चाय-घर। लोगों में पढ़ने की इतनी भूख कैसे जाग गयी, क्या किसी सरकारी आदेश से ऐसा किया जा सकता है ? लिफ़्ट को चलाने वाली लड़की के हाथ में—किताब, टैक्सी ड्राइवर की बग़ल में—किताब, होटल की मेट के स्टूल पर—किताब। ज़रा भी वक़्त मिला कि पढ़ी जा रही है। समय काटने के लिए हलके-फुलके रोमांस नहीं, ख़याली पुलाव बनाने के लिए एस्केपिस्ट क़िस्से-कहानियाँ नहीं, समाज के नव-निर्माण में लगे हुए लोगों के परिश्रम और निष्ठा की कहानियाँ और उपन्यास और देश की प्रगति की योजनाएँ हैं !

## फ्रैंकफ़र्ट की ओर उड़ान

'लाल तीर' से इसी रात को मास्को के लिए चले, जहाँ अगली सुबह 9 बजे पहुँच गये। प्रोग्राम था कि 18 अक्तूबर को शाम के प्लेन से बर्लिन होते हुए फ्रैंकफ़र्ट के लिए उड़ेंगे। लेकिन स्टेशन पर ही चश्मा पहने, अच्छे-ख़ासे स्कॉलर दिखलायी पड़नेवाले मिस्टर ज्यूएन्कोव हाज़िर थे। बतलाया कि ईस्ट बर्लिन पहुँच-कर फिर वेस्ट बर्लिन से समय में दूसरा हवाई जहाज़ फ्रैंकफर्ट के लिए पकड़ना आसान नहीं है। अधिक समय चाहिए, सो हमें मास्को से साढ़े ग्यारह बजे का प्लेन ही ले लेना चाहिए। होटल जाकर कपड़े बदलने का भी समय नहीं था; गोपेशजी को फ़ोन किया, वह आ गये और हमारी टैक्सी हवाई अड्डे की ओर दौड़ चली।

पन्तजी से अलग होकर गोपेशजी ने कहा, 'कैसे यह दुखद समाचार पन्तजी को सुनाऊँ कि निरालाजी नहीं रहे ? 15 अक्तूबर को प्रयाग में उन्होंने देह छोड़ दी।' लेकिन यह ख़बर दबायी क्योंकर जा सकती थी, गोपेशजी ने रास्ते में ही कह दिया। पन्तजी कुछ देर के लिए मौन हो गये। छायावादी कविता के त्रिभुज का एक और बाज़ू भी कट गया—प्रसाद और निराला ! पन्तजी गोपेशजी और मेरे बीच बैठे थे। कुछ देर बाद बोले, 'मैं यूरोप आने की तैयारियों में एक बार उनसे मिलकर भी न आ सका—ऐसी अस्तव्यस्तता रही। यह नहीं कि प्रयाग में रहते हुए उनसे ज्यादा भेंट होती थी, लेकिन जानता तो था कि हैं। अब लौट कर अकेला लगेगा।'

फिर पुराने दिन, अपने कवि रूप के नये दिन, उनके मन में चित्रपट की भाँति घूम गये—बीते दिनों की बातें सुनाने लगे, 'उन्हीं की एक बात पर मैंने अपने सुन्दर बाल एक दिन कटवा दिये थे। मुझे चुनौती दी थी—तुम इन लटों में ही उलझे रहोगे, तुम्हें इनसे बड़ा मोह है, इनके बिना तुम...।'

'जिस नाई के यहाँ उन्हें कतरवाने गया, वह बड़ी मिन्नत करता था, यह सुन्दर, सुनहरी केशराशि मत कटवाओ। अगले दिन निरालाजी ने पहले पहचाना नहीं, फिर तो धक् से रह गये—तुम ? तुमने यह क्या किया ?

'जानता हूँ, मेरे लिए भीतर-ही-भीतर उनके मन में बड़ा स्नेह था, यद्यपि मेरे कोमल, सुव्यवस्थित जीवन पर कुछ पुरुषोचित नाराज़गी भी थी।'

एक देश से दूसरे देश की सीमाएँ पार करने की व्यस्तता में इन संस्मरणों की डोर टूट गयी, हवाई अड्डे पर हमने नाश्ता किया और लुफ्टहन्जी के हवाई जहाज़ पर, पूर्वी बर्लिन के लिए उड़ गये। इरीना से लौटकर फिर मिलना था; गोपेशजी से अब मुलाक़ात हिन्दुस्तान में ही होगी, वह दो मास की छुट्टी पर घर जा रहे हैं।

अलविदा मास्को, जब तक हम पश्चिमी यूरोप देखकर आते हैं, यहाँ 22वीं पार्टी कांग्रेस भी ख़त्म होती है। लौटकर आयेंगे तो मास्को की भीड़-भाड़ कुछ कम होगी।

"धर्मयुग" दिसम्बर, 1961 तथा जनवरी, 1962 में प्रकाशित लेख।

# शब्द और विचार

# फासिस्ट संघ का असली रूप

## राष्ट्रीयता व फ़ासिज़्म

आज राजनीतिक स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद सब दूसरे स्वतंत्र देशों में पाये जाने वाले आन्दोलनों की तरह हमारे देश में भी ताक़त को हथियाने के लिए विभिन्न दिशाओं से संघर्ष चल रहे हैं। सब संसार में जहाँ राजनीतिक स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद जनता अपनी सामाजिक और आर्थिक स्वतंत्रता को कार्यान्वित करने के लिए राजसत्ता पर वश करने के उद्देश्य से संघर्ष कर रही है, वहाँ केवल राष्ट्रीयता अथवा राजनीतिक स्वतंत्रता की तड़क-भड़क दिखाकर, राष्ट्र शब्द के वाह्याडम्बरों (भूगोल, संस्कृति, इतिहास, धर्म आदि) के रूप पर अधिक ज़ोर देकर हर देश का पूंजीपति-वर्ग आम जनता को इस संघर्ष से विमुख करने के प्रयत्न भी कर रहा है। मशीन-युग, और उसके परिणामस्वरूप जन्म लेने वाले पूंजीवाद से पहले जगत के राजनीतिक क्षेत्रों में सामन्तशाही की धाक थी; उस युग में जनता को भरमाने के लिए 'धर्म' और 'कर्म' का अधिक प्रयोग किया जाता था। जब विज्ञान की उन्नति और मशीन-युग के आगमन ने इन अंध-विश्वास-जन्य मान्यताओं को धक्का पहुँचाया और जब सामन्तशाही को हटाकर पूंजीवाद ने समाज की नकेल अपने हाथों में पकड़ ली तब 'धर्म' और 'कर्म' की जगह, जनता को स्वतन्त्रता के असली रूप के लिए संघर्ष से विरत रखने के लिए, 'राष्ट्रीयता' के साधन को बरता जाने लगा। देश-देशान्तर में जो अत्याचार व अनाचार कभी धर्म के नाम पर होते थे, वही अब राष्ट्रीयता के नाम पर होने लगे। जिस प्रकार मनुष्य व मनुष्य, देश व देश को अगल बाँटे रखने के लिए धर्म की दीवार का प्रयोग होता था, उसी तरह अब राष्ट्रीयता का प्रयोग होने लगा।

राष्ट्रीयता की जो मान्यता आजकल प्रसिद्ध है, वह मशीन-युग और पूंजीवाद के जन्म के बाद की ही घटना है। बीसवीं सदी के आरम्भ से पूंजीवाद के लिए अपनी अन्तर्गत विरोधात्मक प्रवृत्तियों के कारण जैसे-जैसे संकटकालीन स्थिति पैदा होती

गयी, राष्ट्रीयता की अभिमान्यता उतनी ही कटु और चरम होती गयी। पूँजीवाद अपनी रक्षा के लिए राष्ट्रीयता के साधन से जनता की शक्ति का दुरुपयोग कर रहा था। जन-संघर्ष से ख़तरा जितना बढ़ता गया, राष्ट्रीयता उतनी ही उग्र हो गयी। इसी उग्र राष्ट्रीयता का नया नाम 'फ़ासिज़्म' है। राष्ट्रीयता और उसका चरम रूप फ़ासिज़्म—बीसवीं सदी से पहले अर्ध-भाग में महा जन-संहारक दो युद्धों का कारण बन चुका है। राष्ट्रीयता के नारों को लगाकर संसार की जन-संख्या का एक बहुत ही छोटा अंश, जो संसार की सब सम्पत्ति और उसे पैदा करने के सब साधनों का मालिक है, संसार की जनसंख्या के बहुत बड़े भाग को, युद्ध की आवृत्ति को शंका बनाये रखकर ही, धोखे में रख सकता है। राष्ट्रीयता की भावना को राजनीतिक स्वतंत्रता मात्र का अर्घ्य देकर सन्तुष्ट किया जा सकता है, राष्ट्रीयता के गीत गाने वाले लोगों के लिए आर्थिक अथवा सामाजिक स्वतंत्रता का कोई अर्थ नहीं होता। लेकिन जगत-मात्र की जनता का अधिकाधिक अंश यह अनुभव करता जा रहा है कि स्वतंत्रता के अर्थ यदि राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ-साथ आर्थिक व सामाजिक स्वतंत्रता नहीं हैं तो ऐसी स्वतंत्रता केवल सरमायादारी द्वारा प्रस्तुत की गयी धोखे की टट्टी ही है—प्रवंचना-मात्र है—वास्तविक संघर्ष से विमुख करने की चाल-भर है।

इस मापदण्ड पर नापे जाकर राष्ट्रीय स्वयं-सेवक संघ एक शुद्ध प्रतिक्रिया-वादी आन्दोलन सिद्ध होता है। यदि जनता का कुछ हिस्सा इस आन्दोलन का समर्थक है तो इसके अर्थ यही हैं कि ऐसे आन्दोलनों की मूल प्रेरक शक्ति—पूँजी-वाद—जनता के उस हिस्से को अपनी स्वार्थ-सिद्धि में बरतने में सफल हो रही है। लेकिन ऐसी प्रवंचना चिरकाल के लिए बनाये नहीं रखी जा सकती; जैसे ही जनता इसकी प्रेरणाओं व स्वरूप से परिचय पा लेती है—यह आन्दोलन रेत पर बने क़िलों की तरह स्वयं ही ढह जाते हैं।

सरकार द्वारा प्रतिबंध हटाये जाने के बाद अथवा पहले संघ-क्षेत्रों में कभी भी सामाजिक अथवा आर्थिक स्वतन्त्रता की समस्याओं के हल का प्रश्न ही नहीं उठा। केवल 'राष्ट्रीयता', 'राष्ट्रत्व', 'धर्म', 'संस्कृति'—इन्हीं पर लगातार ज़ोर दिया जाता रहा है—और दिया जा रहा है। जेल से छूटने के बाद सरसंघ-चालक श्री गोल्वल्कर केवल संस्कृति की दुहाई ही दे रहे हैं। वह देश की केवल राजनीतिक आज़ादी की जड़ों को मज़बूत करने में हाथ बँटाने को तैयार हैं। कुछ अंशों में जो राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त हुई है, यदि उसके फलस्वरूप हिन्दुस्तान की जनता आर्थिक और सामाजिक स्वतंत्रताओं की ओर अग्रसर होने लगे—जैसा कि कांग्रेस के पुराने वादों के अनुसार जनता को आशा थी कि संभव होगा—तो इस दशा में ऐसी प्रगति को संघ देश-द्रोह आदि का नाम देकर इसका कठोर विरोध करेगा—ऐसा उसके नेताओं के वक्तव्यों से स्पष्ट है।

जनता केवल राष्ट्रीयता के ही संकीर्ण क्षेत्र में भ्रान्त रहे, मौलिक माँगों की सम्पूर्ति के लिए उचित साधनों के निर्माण में न जुट पाये, हर फ़ासिस्ट आन्दोलन का यही ध्येय होता है और संघ ने इस आदर्श को निभाने में अद्भुत पटुता का परिचय दिया है।

क्या जनता केवल 'राष्ट्रीयता व संस्कृति' को ही खाये, 'राष्ट्रीयता व संस्कृति' को ही पहिने, 'राष्ट्रीयता व संस्कृति' की छत के तले ही सोये, बीमार होने पर 'राष्ट्रीयता व संस्कृति' की औषधि की ही एक मात्रा का प्रयोग करे, अपने ज्ञान व शिक्षा की गवाही के रूप में 'राष्ट्रीयता व संस्कृति' की रट ही लगाया करे ? क्या जनता की भूख, नंगेपन, रहन-सहन की मानवोचित जगह के अभाव, रोगों के आम शिकार होने का, अशिक्षा व अंधविश्वास का 'राष्ट्रीयता व संस्कृति' के अतिरिक्त कोई उपचार नहीं है ? उपचार तो है—लेकिन जनता को उस उपचार से दूर रखने के लिए ही 'राष्ट्रीयता व संस्कृति' के हिरण्यमय, आँखों को चौंधिया देने वाले आवरण का जमकर प्रयोग किया जा रहा है।

मशीन-युग के अग्रणी पूँजीवादी देशों में आज जनता को शान्त रखने के लिए 'राष्ट्रीयता' के आवरण का प्रयोग होता है, 'धर्म' व 'संस्कृति' का नहीं। हमारे देश में इन दोनों प्रेरणाओं का एक साथ प्रयोग हो रहा है--कारण कि आज देश में सामन्तशाही और पूँजीवाद दोनों का बोलबाला है। हमारे देश में सामन्तशाही का पूरी तरह लोप नहीं हुआ, न पूँजीवाद ही पूरी तरह पनप पाया है। अभी हम दो युगों में रह रहे हैं, इसलिए दोनों युगों के प्रतिगामी नारे आज इस्तेमाल हो सकते हैं।

यह ठीक है कि प्रत्यक्षतया संघ को मुख्य समर्थन मध्यवर्ग के लोगों द्वारा ही प्राप्त हुआ, लेकिन मध्यवर्ग जनता का वह हिस्सा होता है जो जनता के अधिकांश—सर्वहारा वर्ग—और सब राजनीतिक व आर्थिक ताक़त पर येन-केन-उपायेन ज़ोर जमा लेने वाले जनता के एक बहुत छोटे-से अंश—पूंजीपति वर्ग—के बीच में खड़ा रहता है। अपने सम्पन्न काल के दिनों में, जो काल कि केवल अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध छिड़ने पर ही संभव होता है, पूंजीपति वर्ग न घर और न घाट के इस मध्यवर्ग को अपने बड़े मुनाफ़ों की थोड़ी-बहुत जूठन पर पालते हैं। इस पर मध्यवर्ग ही मुखरित होकर जनता के अधिकांश के हितों से पूंजीपति वर्ग के हितों में विद्रोह का साधन बनता है। लेकिन युद्धोपरान्त, संकट-कालीन स्थिति पैदा होने पर (शान्ति-काल हर पूंजीवादी समाज के संकट का काल होता है) मध्यवर्ग पूंजीपतियों के मुनाफ़े का उच्छिष्ट नहीं प्राप्त कर पाता—तभी उसकी आँखें खुल सकती हैं और तभी वह जनता के प्रति विद्रोह से हाथ रोक सकता है। आज देश-विदेश में यह स्थिति आ चुकी है। हिन्दुस्तान का जो मध्यवर्ग अब तक प्रतिक्रियावादी आन्दोलनों का समर्थन करता रहा है—और इस प्रकार जिसने

केवल पूंजीवाद की जड़ें ही मज़बूत की हैं—आज सर्वहारा वर्ग के निकटतर पहुँचता जा रहा है। आज 'राष्ट्रीयता', 'संस्कृति' और 'धर्म' के अतिरिक्त उसके सामने 'भूख', 'नंग' और 'रिहायश' के सवाल भी उठने शुरू हो गये हैं। जैसे-जैसे 'राष्ट्रीयता', 'धर्म' आदि के समान प्रतिवादी नारों की पोल उसके सामने खुलती जायेगी, वह जनता के आर्थिक व सामाजिक स्वतंत्रता की ओर स्वाभाविक विकास का अधिकाधिक समर्थक वन सकेगा।

राष्ट्रीयता व फ़ासिज़्म के इस थोड़े से परिचय के वाद हम संघ के विचारवाद की शव-परीक्षा की ओर वढ़ते हैं।

## संघ के कार्यों की रूप-रेखा

1925 में नागपुर में एक मराठा ब्राह्मण डॉक्टर हेडगवार ने संघ की स्थापना की। उद्देश्य था—सांस्कृतिक तल पर हिन्दुओं को इकट्ठा करना और उनकी शारीरिक, बौद्धिक व नैतिक ज़िन्दगी को उभारना। संघ के सदस्य सुवह उठकर निश्चित स्थानों पर एक साथ खेलते, कसरत व फ़ौजी ड्रिल करते थे। यह आन्दोलन धीरे-धीरे मध्य प्रान्त, वम्वई आदि में फैला और तदुपरान्त हिन्दुस्तान के सभी प्रान्तों और रियासतों में छा गया।

ख़िलाफ़त आन्दोलन के दिनों में जिस हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रदर्शन हुआ था, अब वह स्वप्न हो चुकी थी। देश में हिन्दुओं और मुसलमानों में जगह-जगह दंगे होते थे। विदेशियों द्वारा प्रेरित साम्प्रदायिक कलह-द्वेष में मुस्लिम साम्प्रदायिकता पूरा साथ दे रही थी, हिन्दू साम्प्रदायिकता ने इसकी प्रतिक्रिया में संघ के रूप में जन्म लिया। जिस-जिस तरह मुस्लिम साम्प्रदायिकता उभरती और वेग पकड़ती गयी, संघ की विचारधारा भी हिन्दुओं के मध्यवर्ग की कल्पना में जमती गयी। अक्तूवर 1947 में संघ के वर्तमान गुरु गोल्वल्कर ने वम्वई में संघ की शाखा के सामने भाषण देते हुए कहा कि एक मित्र ने एक वाक्य कहा, जो विशेष उल्लेखनीय है :

> उन्होंने कहा—मुझे तो मिस्टर जिन्ना ने संघ-प्रेमी वनाया। मैंने कहा—जिन्ना तो हमारे प्रचारक ही वन गये और मैं उनका धन्यवाद भी देता हूँ।

यह घोषणा होने पर कि ब्रिटेन राजनीतिक अधिकार व सत्ता हिन्दुस्तानियों को सौंपकर हिन्दुस्तान से चले जाने का इरादा रखता है, पंजाब में भयंकर रक्तपात शुरू हुआ। यह रक्तपात सत्ता हस्तान्तरित होने के दो-तीन महीनों वाद तक जारी रहा। हिन्दुस्तान की राजनीति में संघ ने इन्हीं दिनों प्रसिद्धि पायी। 15 अगस्त, 1947 के वाद इसका रूप और व्यवहार और ध्येय, जो आज तक अव्यक्त रहकर गुप्त रूप से शक्ति-संचय करने का था, अव आक्रमणात्मक हो

गया। इसके सदस्यों को, और सदस्यों द्वारा शहरी जनता को, हिंसा के प्रयोग के लिए उत्तेजित किया जाने लगा। राष्ट्रीय आन्दोलन की खिल्ली उड़ायी गयी, देश के नेताओं के प्रति अवज्ञा और तिरस्कार की शिक्षा दी जाने लगी। 'गौ-ब्राह्मण' की सेवा के लिए पैदा हुए संघ को देश की प्रतिगामी ताक़तों—देशी नरेशों, पूंजीपतियों, ज़मींदारों, पण्डितों, ब्राह्मणों का समर्थन प्राप्त था और संघ देश के सब प्रतिगामी चिह्नों को और समाज की व्यवस्था की विषमताओं को बनाये रखने का आश्वासन दे रहा था। इसके सदस्यों को और आम हिन्दू जनता को उनकी सनातन नैतिक परम्परा के प्रति विमुख करने के विशेष प्रयत्न हो रहे थे। इस प्रकार के प्रतिवादी कार्यक्रमों पर परदा डालने के लिए चौंधिया देने वाला और क्षणिक उत्तेजना देने वाला नारा लगाया जा रहा था—मुसलमान हिन्दुस्तान में विदेशी हैं, इन्हें मार भगाओ।

15 अगस्त, 1947 से 30 जनवरी, 1948 तक संघ का अत्याचार निरन्तर बढ़ता गया। इसके स्वयं-सेवकों द्वारा स्थान-स्थान पर बल-प्रदर्शन किये गये और सरकार के प्रति झूठा और ग़लत प्रचार होता रहा। देश की पुलिस व नौकरशाही, जो हमारी ग़ुलामी के दिनों की विरासत थीं, और जिनसे जनता के हित-पोषक राष्ट्रवादी सिद्धान्तों की एकाएक सम्पुष्टि की आशा रखना ग़लत था, संघ के स्वयंसेवकों द्वारा राष्ट्रीय तिरंगे के चीथड़े करने की हरकतें देखती रही। संघ के प्रमुख लोग शहरी शासकों और फ़ौज और पुलिस के बड़े-बड़े अफ़सरों से घनिष्ठता गढ़ते गये। ऐसा प्रतीत होता था कि बहुत जल्दी ही संघ भारत की राजनीति पर सम्पूर्ण रूप से अपना ख़ूनी पंजा गाड़ देगा।

लेकिन संघ ने देश में जिस हिंसा के वातावरण का निर्माण किया था, वही इसकी महत्त्वाकांक्षाओं का घातक बन गया। लाखों की संख्या में निरपराधों पर बदले की जिस मूढ़, कलुषित और असन्तुलित भावना ने ज़ुल्म ढाये थे, उसी भावना से प्रेरित एक व्यक्ति ने महात्मा गांधी की हत्या कर दी। इस पर देश में हिंसा की भावना के मूल प्रेरक—संघ के विरुद्ध अनायास ही घोर घृणा की लहर उमड़ पड़ी।

## संघ पर प्रतिबंध

2 फ़रवरी, 1948 को देश-पिता गांधी की हत्या के तीन दिन बाद सरकार ने राष्ट्रीय स्वयं-सेवक संघ को ग़ैरक़ानूनी संस्था घोषित कर दिया। सरकार की घोषणा (2 फ़रवरी, 48) में बताया गया कि किस तरह "घृणा और हिंसा की ताक़तें इस देश में काम कर रही हैं।" दिखाने को तो संघ का उद्देश्य "हिन्दुओं की शारीरिक, बौद्धिक और नैतिक ज़िन्दगी को उभारना" है, लेकिन संघ के सदस्य अवांछनीय और ख़तरनाक कारंवाइयाँ करते रहे हैं।

"यह भी देखा गया है कि देश के कई हिस्सों में राष्ट्रीय स्वयं-सेवक संघ के कितने सदस्य आग लगाने, लूट, डाकाज़नी और हत्या के जघन्य कार्य करते रहे हैं और ग़ैरक़ानूनी तौर पर अस्त्र-शस्त्र इकट्ठा करते रहे हैं। यह भी देखा गया है कि वह लोगों को हिंसक साधनों को अपनाने की, हथियार जुटाने की, सरकार के प्रति असन्तोष फैलाने की और पुलिस या फ़ौज में अशान्ति पैदा करने की प्रेरणा करने वाले साहित्य का प्रचार करते हैं। इन कार्रवाइयों को गुप्त रूप में, परदे के पीछे किया जा रहा है। संघ की आपत्तिजनक और हानिप्रद कार्रवाइयाँ जारी रही हैं और संघ द्वारा प्रचारित व प्रेरित हिंसा के सन्देश ने कितनी ही बलियाँ ली हैं। इस सिलसिले में सबसे मूल्यवान बलि स्वयं महात्मा गांधी की हुई है।"

## गांधी की हत्या में संघ का हाथ :
## हिंसा का वातावरण बनाने की ज़िम्मेदारी

संघ पर यह आरोप नहीं लगाया गया कि इसके किसी विशेष षड्यन्त्र के फलस्वरूप भारत अपनी अमूल्य निधि गँवा बैठा। संघ देश में हिंसा के घने प्रचार का साधन बना। इसके विचारों के पोषक अख़बार और व्यक्ति दिन-रात घृणा और हिंसा के गीत गाते थे। धर्म व नीति की नयी व्याख्या की जा रही थी, नवयुवकों सिखाया जा रहा था :

शरीर नाश नहीं होता, शरीर की हिंसा कोई हिंसा नहीं है।[1]

चोरी, छल, हिंसा—सब कर्म हैं और वे सब स्वागत-योग्य व ग्राह्य हैं, यदि उनको चरितार्थ करने वाली प्रवृत्ति निःस्वार्थ व निष्काम है।[2]

भगवान बार-बार आश्वासन देते हैं—'मत परवाह कर' 'मा शुचः'—हिंसा-अहिंसा की, पाप-पुण्य की, धर्म-अधर्म की—अहं त्वां सर्वं पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।[3]

अतः गुण्डेपन को मिटाने के लिए ज़रूरी है उन मानव-शरीरों को मिटा देना जो गुण्डेपन को धारण किये हुए हैं और उन्हें भी मिटा देना जो गुण्डों को आश्रय व बढ़ावा देते हैं।[4]

---

1. पं० ऋभुदेव शर्मा, आचार्य—सांगवेदोपवेद विद्यालय ; 'वैदिक धर्म', जून 1947
2. श्री वसिष्ठ जी, 'वैदिक धर्म', अक्तूबर 1947 3. वही 4. वही

वेद कहता है—'दासं वर्णमधरम् ग्रहाकः।' म्लेच्छों को समूल नष्ट कर दो। उन पर दया का तो प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।[1]

'म्लेच्छ' शब्द से क्या अभिप्रेत है, इसकी व्याख्या गुरु गोल्वल्कर ने इस प्रकार की है :

> 'म्लेच्छ' से उन सभी को समझना चाहिए, जो हिन्दू धर्म एवं संस्कृति से आदिष्ट सामाजिक नियमों का पालन नहीं करते। (हमारी राष्ट्रीयता, पृ० 58)

अपने राजनीतिक विचार-विनिमयों में, 'चर्चा' व 'बोधकों' में संघ के सदस्यों को निरन्तर ऐसी ही शिक्षा मिल रही थी। गांधी के निधन पर पं० जवाहरलाल नेहरू ने अपने रेडियो-भाषण में कहा—"पिछले कुछ महीनों और वर्षों में देश में काफ़ी विष फैलाया गया है और उस विष ने लोगों पर असर भी किया है।" इसी प्रकार का विष पिये एक पागल ने गांधी पर हाथ उठाया। संघ पर गांधी के विरुद्ध हाथ उठाने का आरोप नहीं है, बल्कि इससे भी गहरा आरोप है : संघ की विचारधारा ही उस पागल व्यक्ति के लिए वह मद बनी, जिससे मदाभिभूत होकर उसने दुनिया के सबसे बड़े निरपराध व्यक्ति की हत्या कर दी।

## फ़ासिस्ट का झुकाव

संघ जिन आदर्शों को लेकर बढ़ रहा था, इतिहास साक्षी है कि वह आदर्श देश को नंगे फ़ासिज़्म की ओर धकेल देते। जर्मनी व इटली के फ़ासिस्ट आन्दोलनों के प्रति संघ के प्रवर्तकों में गहरी दिलचस्पी थी। गुरु गोल्वल्कर ने अपनी पुस्तक—**हमारी राष्ट्रीयता** (जिसे संघ के सदस्यों की 'गीता' कहना ग़लत न होगा) लिखा :

> इटली की ओर देखिये, भूमध्यसागर के चारों ओर के संपूर्ण देशों को विजय करने की प्राचीन रोमन जाति की चेतना, जो अब तक छिपी हुई थी, जाग उठी है और उसने जातीय, राष्ट्रीय महत्वाकांक्षाओं को तदनुसार रूप दे दिया है। (पृ० 36)
>
> प्राचीन जातीय आत्मा, जिसने सम्पूर्ण यूरोप की विजय के हेतु जर्मन-वर्गों को प्रेरित किया था, आधुनिक जर्मनी में पुनः जागृत हो उठी है। (पृ० 36)

---
1. 'वैदिक धर्म', दिसम्बर 1947

हमारी राष्ट्रीयता 1939 में प्रकाशित हुई थी जब कि जर्मनी और इटली का फ़ासिज़्म पूरे ज़ोर पर था :

> जर्मन का स्वाभिमान अपने पितृ-देश में अपने निश्चित स्वदेश के प्रति जागृत हो गया जिसके प्रति उस जाति में सच्ची राष्ट्र-कल्पना के आवश्यक आनुषंगिक रूप कुछ परम्परागत अनुराग है।
>
> जर्मन जाति का स्वाभिमान आज चर्चा का मुख्य विषय हो गया है। जर्मनी ने जाति और संस्कृति की शुद्धता की रक्षा के हेतु अनार्य जाति यहूदियों के निर्वासन द्वारा संसार को विक्षुब्ध कर दिया है। यहाँ जातीय अभिमान अपने उच्चतम रूप में व्यक्त हुआ है। जर्मनी ने यह भी दिखा दिया है कि मौलिक विभिन्नताओं के होते हुए जातियों और संस्कृतियों का सम्पूर्ण भाव से मिलकर एक हो जाना कितना असंभव है। हिन्दुस्तान में हमारे सीखने और लाभ उठाने के लिए यह एक अच्छा पाठ है। (पृ० 40)

स्पष्ट है कि हिन्दुस्तान से मुसलमानों को निकालने का 'अच्छा पाठ' संघ ने फ़ासिस्ट जर्मनी से ही सीखा। लेकिन पुस्तक लिखने के दिनों गुरुजी ने इस अच्छे पाठ के फलस्वरूप जर्मनी और शेष संसार का क्या हाल होगा, इसकी कल्पना न की थी। फ़ासिस्ट जर्मनी को संसार के निरादर की धूल चाटते हुए देखकर भी राजनीतिक ताक़त को बलात हथियाने के इच्छुओं ने अभी तक कुछ सीखा नहीं जान पड़ता :

> राष्ट्र भावों के पाँचों घटकों की वीरतापूर्ण रक्षा आधुनिक जर्मनी में हुई है। और भी, आज वास्तविक वर्तमान में जबकि हम अपने लिए उन्हें देख और अध्ययन कर सकते हैं कि वे किस प्रकार अपने को अपनी महत्ता में व्यक्त करते हैं। (पृ० 41)

जगत-मात्र की संघर्षरत जनता खूब जानती है कि फ़ासिज़्म और नाज़ीइज़्म ही दुनिया में उसकी अभिलाषाओं की सबसे विकट विरोधक शक्तियाँ हैं। गुरुजी के फ़ासिस्टों के प्रति इस अनुराग में उन्हें संघ के असली ध्येयों की कुछ झलक मिल सकेगी।

## 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का सिद्धान्त

फ़ासिज़्म के सिद्धान्तों का एक आवश्यक अंग इस अमानवीय सिद्धान्त का

प्रतिपादन है कि केवल बलवानों को ही दुनिया में जीने का हक़ है। इस सिद्धान्त का नितान्त हेय शब्दों में, समय-समय पर, संघ के संचालकों द्वारा समर्थन होता रहा है। संघ के स्वयं-सेवक जिस एक गाने को प्रायः प्रतिदिन गाते हैं उसी की टेक है :

जिसकी लाठी भैंस उसी की दुनिया कहती आयी है।
जिस जाति में मेल होगा—सुख से रहती आयी है।

सरसंघ-संचालक गुरु गोल्वल्कर का एक भाषण 'वैदिक धर्म' (दिसम्बर, 1947) में छपा है। इसमें उन्होंने कहा :

हमारा तो विश्वास है कि सबल समाज दुर्बल समाज पर दुष्टता के कारण आक्रमण नहीं करता, किन्तु निःसर्ग के नियमानुसार दुर्बल की दुर्बलता ही सबल को उस पर आक्रमण करने का निमंत्रण देती है। देवता भी दुर्बल को नहीं अपनाते, बल्कि उसको अपना भक्ष्य बनाते हैं। दुर्बल के साथ उदारता का बरताव करने के लिए किसी के पास समय नहीं है इसी एक भावना को लेकर हम बल-संवर्धन करते हैं।

निःसर्ग का अकाट्य नियम है कि दुर्बल को खाकर सबल बढ़ते हैं। .. जो नियम पशु-पक्षियों और कीट-पतंगों में दिखायी देता है वह ही मनुष्य में अभी तक है, नष्ट नहीं हुआ। आज भी हम देखते हैं कि तथाकथित सभ्य राष्ट्र छोटे-छोटे राष्ट्रों को हड़प कर जाते हैं। लोग कहते हैं कि अब पशुता का समय गया। मनुष्य का बहुत विकास हो गया है, यह पशुत्व से ऊपर उठ गया है। और इसीलिए आज हमें पशु-जगत के नियमों को छोड़कर मानवता का व्यवहार अपनाना चाहिए। किन्तु आज यह जो सभ्य कहाने वाले शक्तिशाली राष्ट्रों में महासंहारक शस्त्रों के निर्माण की बाजी लगी हुई है, यही क्या प्रगतिशील भावनाओं के चिन्ह हैं? क्या यही मनुष्य का पशुत्व से ऊपर उठने का प्रमाण है? . अतः इस अवस्था में यदि हम एक सबल राष्ट्र बनकर खड़े न हुए तो अपनी सारी प्राचीनता नष्ट करने का पातक हमें लगेगा। यदि हम अपनी परम्परा के साथ जीवित रहना चाहते हैं तो अन्य समाजों की बराबरी की अवस्था हमें अवश्य प्राप्त करनी होगी। .. यही हमारा धर्म है और इसी प्रकार के धर्मपरायण व्यक्तियों को संगठित करना है संघ का कार्य।

स्पष्ट है कि सरसंघ-चालक मानव की गतिशीलता में, पशुत्व से ऊपर

उठने में और उसके विकास में विश्वास नहीं रखते। उनका निश्चय है कि हमारे देश को भी निःसर्ग के पशु जगत के अमानवीय, क्रूर सिद्धान्तों को अपनाकर, पशु-पक्षियों और कीट-पतंगों के आदर्श को आगे रख कर, इन्सानियत के मार्ग से भटके हुए राष्ट्रों की नक़ल करते हुए उन्हीं की तरह वल-संवर्धन करना है। उनका ध्येय पशु-पक्षियों, कीड़े-मकोड़ों और प्रकृति की अमानवीयता से विमुख होकर मानवीय विकास की ओर बढ़ने का नहीं है।

9 मार्च, 1947 को गुरु गोल्वल्कर ने संघ की दिल्ली शाखा के सामने वोलते हुए कहा :

> एक सवल व्यक्ति व्यर्थ में ही एक दुर्बल व्यक्ति की रक्षा की ज़िम्मेदारी क्यों अपने सिर लेगा? वल्कि वह शक्तिशाली यदि कह दे कि तुम मरते हो तो मरो, यह नहीं अपितु मरते देखकर ऊपर से दो ठोकर स्वयं भी मार दे तो इसमें कोई वैचित्र्य नहीं है। यह तो संसार का एक सामान्य व्यवहार ही है।

गिरे हुए को उठाना पशु का काम नहीं है, केवल मानव ही ऐसा कर सकता है। यदि हम मानव अथवा उसकी मानवता में विश्वास ही नहीं रखते तो हम गिरे हुए को "संसार के सामान्य व्यवहार" की तरह ठोकर ही मार सकते हैं।

संघ के नेताओं ने हिन्दूधर्म की ठेकेदारी करते हुए नैतिक उन्नति अथवा आत्मिक शुद्धि की ज़रूरत पर कभी अधिक ज़ोर नहीं दिया, प्रायःतर .

> कठोर भुजदण्ड, हाथ की मांस-पेशियाँ और उँगलियों की दृढ़ता एवं पुष्टता" (गुरु गोल्वल्कर, इसी भाषण में)

के ही गीत गाये हैं। प्रथम गुरु डॉक्टर हेडगवार ने अपने एक प्रवचन में कहा था कि हमें ऐसे भद्र पुरुषों की कोई ज़रूरत नहीं है जो प्रातः उठकर, प्रभु का ध्यान करके, खाना खा-पीकर दफ़्तर जाते हैं, अपने कार्य में दत्तचित्त रहते हैं, घर लौटते हैं और अपने परिवार व काम की दुनिया में मस्त रहते हैं, जिनका अपने पड़ोसियों से कभी झगड़ा तक नहीं हुआ, जिनकी भद्रता की सव प्रशंसा करते हैं, ऐसे भद्रजनों की हिन्दू-समाज को कोई ज़रूरत नहीं है।

## अपने प्रचार के लिए घृणा का सहारा

दूसरी फ़ासिस्ट संस्थाओं की तरह संघ ने प्रचार के साधनों में घृणा का प्रयोग खूब किया है। हिटलर ने यहूदियों को मिटा देने का नारा लगाया था, उसी तरह हिन्दुस्तान में संघ ने मुसलमानों के संहार का नारा लगाया। सव सम्भव तरीक़ों से उनके विरुद्ध घृणा फैलाने की कोशिशें सदैव जारी रहती हैं। गुरु

गोल्वल्कर ने मुसलमानों को अपनी पुस्तक में हमेशा 'शत्रु' कहकर पुकारा है, इनकी सभ्यता को 'भ्रष्ट' सभ्यता का नाम दिया है, इस्लाम के नाम से 'विनाश के कर्ता' कहकर ही उन्हें सम्बोधित किया है :

ईरान में भी मुसलमानी आक्रमण की उसी पुरानी कहानी की पुनरावृत्ति पूर्ण भयंकरता के साथ होती है जिसके साथ हत्याएँ, उपद्रव, विनाश, लूट तथा गृहदाह अनुगामी के रूप में आते हैं। और पवित्र स्थानों का भंग करना, धर्म एवं संस्कृति का परिशोषण, उपस्थित घातकों के धर्म में जनता को परिवर्तित करना तथा वे प्रत्येक कार्य हुए जो सदा इस्लाम के फैलाने के साथ हाथों-हाथ होते हैं। (पृ० 22)

मनुष्य को किसी सामुदायिक कार्य की प्रेरणा के लिए जिन प्रेरणाओं की ज़रूरत होती है, उनमें निम्नतम कोटि की प्रेरणाएँ घृणा व भय से मिलती हैं। किसी दिशा से भय पैदा कीजिये, भय से घृणा स्वयं उत्पन्न हो जायेगी और भय व घृणा मिलकर मनुष्य को किन्हीं विशेष ध्येयों की प्राप्ति के लिए संलग्न कर देंगी। भय ही पशु जगत में कार्यशीलता का मुख्य प्रेरक होता है; इसी का सहारा लेकर दुनिया की प्रतिगामी ताक़तें बढ़ती रही हैं। पशुता के इस नियम का आश्रय छोड़ने के दुनिया में बहुत थोड़े उदाहरण मिलते हैं—मानव-इतिहास में यह उदाहरण बुद्ध, ईसा, कबीर, नानक व गांधी आदि ने ही प्रस्तुत किये हैं। लेकिन मानवता की यह राह आत्म-बलिदान व कठोर तपस्या की राह है; पशु जगत के सामान्य, सुगम तरीक़ों की सराहना करने वाले मनुष्य इस राह पर बढ़ने के लिए क़दम नहीं उठा सकते।

## लोकतन्त्र के सिद्धान्तों का विरोध

राजनीतिक क्षेत्र में घृणा के नारों को लगाकर प्रतिगामी ताक़तों के लिए अगला क़दम स्पष्ट शब्दों में लोकतन्त्र के सिद्धातों का विरोध करना होता है। गुरु गोल्वल्कर ने राष्ट्रीय आन्दोलन के बारे में इशारा करते हुए अपनी पुस्तक में लिखा :

गणतंत्र की भ्रान्त भावनाओं ने इस दृष्टिकोण को पुष्ट किया है। (पृ० 15)

राष्ट्रीय आन्दोलन की लोकतन्त्रीय भावनाओं की खिल्ली गुरुजी ने इन शब्दों में उड़ायी है :

तथाकथित विशाल दृष्टिकोण लेकर संगम की मृग-मरीचिका के पीछे दौड़-धूप। (9 मार्च, 1947 को दिल्ली में भाषण)

लोकतन्त्र की सबसे बड़ी परख किसी भी देश में वयस्क मताधिकार का प्रचलन है। विधान परिषद् द्वारा इस सिद्धान्त के स्वीकृत हो जाने पर, उपरोक्त भाषण में वयस्क मताधिकार पर गुरुजी ने निम्न सुलझे हुए विचार प्रकट किये :

देश में जो कोई भी कुत्ता-बिल्ली रहे, वोट का अधिकार रखता है।

इसी भाषण में उन्होंने यह भी कहा :

स्वतन्त्रता, साम्य आदि का उच्चारण करते रहना हमारा आज स्वभाव बन गया है।

लोकतंत्र के सिद्धान्तों की एक बड़ी कसौटी सुरक्षा के वह भाव और अधिकारों के वे आश्वासन हैं जो देश के अल्पसंख्यकों को दिये जाते हैं। इस विषय में गुरुजी के विचार निश्चित हैं, हिन्दुओं के अतिरिक्त जो जातियाँ हमारे देश में बसी हैं—

किसी वस्तु पर उनका अधिकार नहीं होगा, वे किसी विशिष्ट अधिकार के पात्र नहीं होंगे। अधिक श्रेष्ठ व्यवहार की बात तो दूर की है, उन्हें नागरिक अधिकार तक प्राप्त न होंगे। (पृ० 52)

आज संघ से प्रतिबंधों के हट जाने के बाद संघ के नेता, प्रचारक व उनके अख़बार देश के 'सेक्युलर' (किसी भी धर्म के प्रति पक्षपातरहित) ध्येय में अपनी सम्मति जता रहे हैं। इस प्रकार एकाएक रंग बदलने के दो ही अर्थ हो सकते हैं—एक तो यह कि संघ के अधिकारियों और प्रचारकों ने अपनी सब पुरानी मान्यताओं को तिलांजलि दे दी है; दूसरा यह कि इस प्रकार की घोषणाएँ केवल जनता को धोखा देने के लिए हैं। यदि दूसरा संभव अभिप्राय ग़लत है तो उन्हें चाहिए कि कहें कि हम जो कुछ भी आज तक लिखते व कहते आये हैं, वह ठीक नहीं था।

## स्वतंत्रता आंदोलन : उसकी सफलता का उपहास

देश में स्वतंत्रता के जिस आन्दोलन के परिणामस्वरूप आज़ादी आयी, यदि

उसका उपहास अथवा कम मूल्यांकन न किया जाये तो जनता अपने प्रति झुक न सकेगी, इस उद्देश्य से आज़ादी से पहले और बाद में संघ से राष्ट्रीय आन्दोलन को भद्दी गालियाँ दी जाती रही हैं और उसके बारे में ऊँची आवाज़ में मज़ाक करने की कोशिशें होती रही हैं। 14 जनवरी, 1948 को आकाश-वाणी में छपे एक भाषण में गुरु गोल्वल्कर ने हिन्दुस्तान की राष्ट्रीयता को वेश्या कहकर पुकारा और हिन्दुत्व-पक्षी अपनी राष्ट्रीयता को 'माता' की पदवी दी। इस भाषण में उन्होंने कहा :

> आज तो यह कहा जा रहा है कि एक बड़ी अभूतपूर्व विजय प्राप्त की गयी है। 'देखो, रक्त का एक बिन्दु बहाये बिना हमने कैसे स्वतंत्रता प्राप्त किया है—इस तरह के नारे लग रहे हैं।

अक्तूबर, 1947 में दिये गये एक भाषण में उन्होंने कहा :

> राजनीतिक प्रश्नों में फँसकर उन्होंने अपनी संस्कृति-धारा को छोड़ दिया।

आज़ादी से पहले के (9 मार्च, 47 के दिल्ली वाले) एक भाषण में गुरु गोल्वल्कर ने कहा :

> राज्यसत्ता का विरोध करना चाहिए, बस इसी संकुचित दृष्टि के आधार पर आज हमारे सभी प्रयत्न चल रहे हैं। . अपने विजेताओं के प्रति घृणा के भावों के आधार पर हमारे राजनैतिक आन्दोलनों का अधिष्ठान हुआ। इस विचारधारा के पीछे है राज्यसत्ता के प्रति द्वेष तथा क्षोभ की भावना एवं द्वेषमूलक प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्ति। . यदि उनसे प्रश्न किया जाता है कि विरोध का कारण क्या है, तो कारण बताया जाता है कि 'हमारा आर्थिक शोषण हो रहा है, हमें फ़ौज में, सरकारी दफ़्तरों में कम नौकरी मिलती है।' स्वतन्त्रता इसलिए चाहिए कि रुपया-पैसा खूब मिले, नौकरी-चाकरी तथा रोटी-पानी की कमी न रहे। दूसरे शब्दों में...यदि हम धनवान हो जायें तो हम स्वतंत्र हैं। यदि कुत्ते को बहुत सारी ताज़ी रोटियाँ मिल जायें तो पर्याप्त हैं। भारतवर्ष धनवान का कुत्ता बने। उसे खाने-पीने, रहने-सहने की कमी न रहे, यह है उनका आदर्श।

इतनी बड़ी संस्था के सरसंघ-संचालक के यह अपने शब्द हैं ! अज़ादी के महान् संघर्ष का यही कुत्सित अर्थ संघ के स्वयं-सेवकों को समझाया गया है !

हमारे स्वातन्त्र्य-आन्दोलन की मूल प्रेरणा केवल घृणा थी ! जब इतनी बड़ी संख्या में जनता स्वतंत्रता के लिए बलिदान कर रही थी तो वह उसकी विदेशियों के विरुद्ध केवल प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्ति थी ! अन्यथा नौकरी, रुपया-पैसा और रोटी-पानी पाने की और धनवान का कुत्ता बनने की उत्कट लालसा ही देशवासियों को आज़ादी की लड़ाई में जूझे रख रही थी ! जिस विदेशी सत्ता की साम्राज्यशाही के विरुद्ध यह लड़ाई चली, उसके एक भी सदस्य ने हमारे संग्राम के विषय में कभी भी इतनी वीभत्स आलोचना नहीं की; इस बात का गर्व संघ के मुख्याधिनायक को ही मिला ।

वैदिक धर्म (दिसम्बर, -7) में प्रकाशित गुरुजी के एक भाषण का उद्धरण देखें :

> लोगों के सामने बड़ी-बड़ी समस्याएँ थीं और वृहत विचार-तरंगों में लोग बहे जा रहे थे।
>
> अखिल भारत का ध्यान करो, सारे भारत को उठाने का प्रयत्न करो, हिन्दू और अहिन्दू के क्षुद्र साम्प्रदायिक झगड़ों में न पड़ो, चारों ओर यही विचार प्रकट किये जा रहे थे ।

गुरुजी ने अपनी पुस्तक में देश की राष्ट्रीयता के परिचालकों को "देशद्रोही, मूढ़, विपथ, अज्ञानी" कह कर ही पुकारा है। (पृ० 49)

> उन्हें यह असाधारण असंगति उत्सुकतापूर्वं निगलने में कुछ भी कठिनाई नहीं हुई कि उनका देश उनका नहीं वरन् उनके समान ही विदेशियों तथा उनकी जाति के शत्रुओं का भी है। (पृ० 66)

> सचमुच उन्होंने हमारे देश को एक सराय ही बना डाला । (पृ० 64)

कांग्रेस की स्थापना क्यों हुई और मानववादी होने के उसके दावे पर छींटे कसते हुए संघ के विचारों के एक प्रचारक ने लिखा है :

> अभी भी वे चिल्लाते हैं—'हम मानव हैं, मुसलमान हमारे भाई हैं ।.. इसके स्थापक मिस्टर ह्यूम ने भारतीयों की ओर से आने वाले ख़तरे से बचने के लिए यह रक्षा-यत्न होगा, ऐसी धारणा लेकर 1885 में कांग्रेस की स्थापना की । इन कांग्रेसियों ने भारत का बँटवारा कर हिन्दुओं का सर्वनाश कर डाला ।[1]

1. श्रीषचन्द पाण्डेय, 'वैदिक धर्म', दिसम्बर 1947 ।

एक दूसरे विचारक ने, जो खुद मानस-चिकित्सक हैं, लिखा है :

यह कहना ग़लत है कि हिन्दू-मुसलमानों को अंग्रेज लड़ाते हैं। जब किसी को कोई कारण नहीं मिलता तो वह सारा दोष अंग्रेजों के सिर पर थोप देता है। हिन्दू-मुस्लिम झगड़ों के लिए कांग्रेस ज़िम्मेवार है।[1]

संघ के विचारों के समर्थक एक विद्वान ने अपनी विद्वत्ता इन शब्दों में बतायी है :

कांग्रेस का अहंकार कहता है हमारे 60 वर्ष एड़िएँ रगड़ने पर विजय मिली है।...स्वतंत्रता आयी है आर्त दुःखी भारतमाता की अन्तरात्मा के श्री भगवान् के चरणों पर गिरकर विलाप करने से।[2]

आकाशवाणी (14 जनवरी 1948) में छपे एक भाषण में गुरु गोल्वल्कर ने कहा :

जो कुछ हुआ उसके बाद भी अपना ढिंढोरा पीटते हुए लोगों को हम देखते हैं। अपनी ही पीठ ठोक लेने का यह हाल तो वैसा ही है जैसा इस किस्से में है। एक सज्जन रात को घर के बरामदे में सो रहे थे कि खटका सुनकर उठ बैठे। देखा—चोर हाथ में तलवार लेकर चला आ रहा है। एकदम सिरहाने के नीचे से तालियाँ उठाकर उसने चोर के हवाले कर दीं—'अरे मुझे क्यों मारता है। तुझे पैसा चाहिए न? यह ले तालियाँ। उस कमरे में खजाना है। पास के कमरे में मेरी स्त्री भी सोयी हुई है। चाहो तो उसे भी ले जाओ। झगड़ा करने की कोई आवश्यकता नहीं।' चोर अपना काम करके चलता बना। प्रातःकाल वह महानुभाव अपनी बहादुरी की डींग गली-मुहल्ले के सामने हाँकने लगे—'रात को एक मूर्ख चोर आया। मैंने भी उसे खूब उल्लू बनाया। पहले तो उसे चाबियाँ दे दीं। उसने पैसे निकाल लिये। फिर स्त्री का पता पूछने लगा। वह उसे भी ले गया। अब वह जिस जगह भी गया है उसे स्त्री को खिलाना पड़ेगा, पालना पड़ेगा, देखभाल करनी पड़ेगी। यह खर्चा चोर पर और अधिक पड़ेगा। मेरा क्या गया? मैं तो उल्टा आज़ाद हो गया।' यह है आज़ादी की कल्पना।

---

1. श्री उदयभानु, मानस-चिकित्सक, इन्दौर, 'वैदिक धर्म', जनवरी 1947 2. श्री वसिष्ठ जी, 'वैदिक धर्म', अक्तूबर 1947।

ऐसी दिव्य-कल्पना के स्वामी गोल्वल्कर आज किस प्रकार उसी आज़ादी की रक्षा की वातें करते हैं जो उनके अनुसार स्त्री और धन को जान-बूझकर दूसरे को सौंप देने के बाद प्राप्त हुई है?

## गांधी के प्रति अश्रद्धा

इस तरह केवल राजनीतिक आन्दोलन और इसकी सफलता के प्रति गर्हित विचार ही नहीं फैलाये गये, वल्कि देश के नेताओं के प्रति जान-बूझकर अश्रद्धा भी उकसायी जाती रही है। देश के सर्वोच्च नेता गांधी के विरुद्ध निरादर व उपेक्षा के भाव जगाने की निरन्तर कोशिशें की जाती थीं। ऐसा करते समय कितना झूठ वोला जाये व उस अनन्य नेता के प्रवचनों को कितना तोड़-फ़ोड़ दिया जाये, इस वात की कभी भी, किंचित भी परवाह नहीं की गयी। यह भी पदवाह नहीं की गयी कि गांधी पर किये जा रहे प्रहार कहीं नैतिकता व सत्य पर तो चोट नहीं कर रहे। आकाशवाणी (14 जनवरी, 48) में छपे भाषण में गुरु गोल्वल्कर ने कहा :

> कुछ वर्ष पहले विहार में भूकम्प आया था। तव किसी ने (गांधीजी ने) कहा था कि हिन्दू समाज में जो अस्पृश्यता का दोष है उसका दण्ड हमें भूचाल के रूप में मिला है। भूकम्प और अस्पृश्यता का क्या सम्वन्ध है? यह साधारण-वुद्धि मनुष्य को समझ नहीं आता। मुझे भी इसका पता नहीं। सम्भव है, ईश्वर ने आकाश के बीच में से दोनों को जोड़ने वाला कोई रस्सा बाँध रखा हो।

संघ की विचारधारा के एक दूसरे प्रचारक ने लिखा है :

> इनके सर्वश्रेष्ठ नेता ने इन्हें (नोआखाली के लोगों को) कहा—"इन अत्याचारों को सहन करो। इनका प्रतिकार करने की भावना का मन में निर्माण न होने दो। जव तक जीवित हो तबतक इन अत्याचारों को सहते जाओ। इसी में शूरत्व है, इसी में वीरत्व है।[1]

9 मार्च, 47 को दिल्ली में भाषण करते हुए गोल्वल्कर ने अनुपम शक्ति के उपासक गांधी के उपदेशों की एकदम ग़लत व्याख्या करते हुए कहा :

---

1. पं० गोपाल नीलकण्ठ दाण्डेकर, 'वैदिक धर्म', फ़रवरी 1947।

अपने ही यहाँ ऐसे सुयोग्य पुरुष हैं जो कहते हैं—'शक्ति एकत्रित न करो, आत्महत्या ही धर्म है, आत्मरक्षा पाप है।'... हमारे कुछ श्रेष्ठ पुरुषों ने कहा है—'आत्मरक्षा न करो, बैठे-बैठे मरो, किसी प्रकार का प्रतिकार न करते हुए मरो।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि यह वक्तव्य गांधीजी की शिक्षा से कितनी दूर है।

संघ के क्षेत्रों में गांधी को 'औरंगज़ेब का अवतार' व 'राक्षस' तक कहकर पुकारा जाता था। गांधी की हत्या के बाद अभी हाल में ही सघ के एक बड़े पृष्ठ-पोषक, दिल्ली के वैद्य गुरुदत्त ने अपनी एक अँग्रेज़ी की पुस्तक ('कांग्रेस राज का पहला वर्ष) में गांधी को सिर्फ़ मुसलमानों के दुःख से चलायमान होने वाला व्यक्ति लिखा है ("जब भी कभी कोई मुसलमान किसी ख़तरे व तकलीफ़ में होता था तो वह गांधी में अपनी तरफ़ से वकालत करने वाला अच्छा वकील पा सकता था"—पृ० 51), और गांधीजी की हत्या का दोष भारत की केन्द्रीय सरकार के मत्थे मढ़ा है, कि भारत सरकार ने ही ऐसा वातावरण बनाया जो इस हत्या का कारण बना। (पृ० 50)

## नैतिक परम्परा पर प्रहार

अपने राजनीतिक स्वार्थों के पीछे दौड़-धूप में हिन्दू धर्म की दावेदारी करते हुए, संघ ने हिन्दू धर्म की नैतिक परम्पराओं पर जितनी गहरी चोट की है, उतनी आज तक किसी विधर्मी ने नहीं की। शास्त्रों के उद्धरण और गौ माता की रक्षा की दुहाई देकर स्वयं-सेवकों को झूठ बोलना सिखाया जाता है। झूठ बोलना 'नीति' है। हर स्वयं-सेवक आपसे झूठ-सत्य विषयक बात के दौरान कहेगा : "यदि एक गौ इधर से गुज़रे और बाद में उसे ढूंढ़ता हुआ एक कसाई आ पहुँचे तो आपको चाहिए कि झूठ बोलें और कहें कि हमने कोई गौ इधर से जाती नहीं देखी।" शूरवीरता के दम्भ भरने वाले इन स्वयं-सेवकों को यह नहीं सिखाया जाता कि कसाई से सच कह दो, लेकिन यदि गौ की रक्षा करना अपना धर्म समझते हो तो जान पर खेलकर गौ की रक्षा करो, गौ का बाल भी बाँका न होने दो। श्रीपाद् दामोदर सातवलेकर ने, जो संघ के चोटी के एक प्रचारक हैं, अभी हाल में लिखे एक लेख में कहा है कि हमारे शास्त्रों में सत्यवादी हरिश्चन्द्र के विषय में दो भिन्न-भिन्न गाथाएँ पायी जाती हैं। एक पौराणिक गाथा है जिसके अनुसार हरिश्चन्द्र ने सत्य-पालन हेतु अपने को मिटा दिया। यह आदर्श हमारे समाज के लिए ग़लत है और इसका त्याग करना चाहिए। दूसरी गाथा 'ब्राह्मणों' में है जिसके हरिश्चन्द्र ने झूठ बोलकर अपनी रक्षा की। यही हरिश्चन्द्र

हमारे आदर्श हैं।

दिल्ली के एक पंडित ने स्वयं-सेवकों को समझाया है :

'अन्यद्धि शब्दानां व्युत्पत्तिनिमित्तमन्यच्च प्रवृत्ति-निमित्तम'—की तरह इस संसार में कहने और करने के दो भिन्न-भिन्न मार्ग हैं।[1]

आदर्श आर्य-वीरता का वखान करते हुए एक पण्डित ने इस तरह का वीर वनने का आदेश दिया है कि "जिनके गर्जन-मात्र से ही अफ़गानी स्त्रियों का गर्भस्राव हो जाता था।" इसी विद्वान् ने यह शिक्षा भी दी है :

दया और अनुकम्पा तथा मानव-भावना की रक्षा वहीं तक श्रेयष्कर है जहाँ तक उसके पालन में अपने ऊपर आँच न आये।[2]

वैदिक धर्म (दिसम्बर 1946) में एक लेख छपा—जिसका शीर्षक था—'हिन्दुओं की सुरक्षा के उपाय'। इसके लेखक ने अपनी वैदिक पटुता निम्न शब्दों में दरशायी है :

कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' के अधिकरण 24 औपनिषदकम के 'परघात प्रयोग' नामक प्रथम प्रकरण में लिखे प्रयोगों को काम में लाने कां प्रयत्न किया जाये।. हरिजनों से इन कार्यों में सबसे अधिक सहायता मिल सकती है। कुछ काल के लिए जाति-विभाग एक ओर रख दिया जाये।

संघ के एक दूसरे प्रचारक गणपतराव बा० गोरे ने, जिन्होंने कि आर्यसमाज द्वारा लगाये गये इस आरोप का कि 'संघियों की भगवाध्वज की पूजा मूर्तिपूजा है' खण्डन करके, संघ-क्षेत्रों में विशेष ख्याति पायी थी, हिन्दू धर्म की रक्षा व हिन्दुओं की संख्या-वृद्धि के लिए जो उद्विग्नता दिखायी है, उसका वृत्तान्त पढ़कर लोग हृदयों पर हाथ रख लेंगे :

नियोग का आश्रय लेकर हिटलर ने जर्मन जाति की संख्या को 6 वर्षों के भयानक युद्ध के पश्चात भी बढ़ाकर दिखाया। कुछ वर्ष पर वर्तमान पत्रों में छपा था कि एक समय में जितना वीर्य पुरुष लिंग से निकल सकता है, उसे लेकर पिचकारियों द्वारा जर्मन लोग 15 स्त्रियों को गर्भवती कर

1. पं० हुसनलाल नैय्यड़, दिल्ली, 'वैदिक धर्म', दिसम्बर 1947। 2. श्रीषचन्द पाण्डेय, 'वैदिक धर्म', दिसम्बर 1947।

देते हैं। यह नियोग नहीं तो क्या है ? हिन्दुओं को इससे घृणा है, परन्तु जो संसार में अपना अस्तित्व सुरक्षित रखना चाहते हैं वह इसका सदुपयोग करते ही हैं। इस तरह क्षत्रियों के वीर्य से भी उत्पन्न किये जा सकते हैं।[1]

## प्रतिगामी आन्दोलन

देश के पूंजीपति कांग्रेस को तब तक पैसे आदि से सहायता देते रहे जब तक कि ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध लड़ाई जारी थी। उस संघर्ष के दिनों में कांग्रेस द्वारा देशी चीजों के प्रयोग के प्रचार से देश के पूंजीपतियों के खज़ाने भरते थे। कांग्रेस को दी गयी आर्थिक सहायता 'एडवर्टिज़मेन्ट' के खाते में लिखी जा सकती थी।

जब ब्रिटेन में चर्चिल की आम चुनावों में हार हुई और लेबर-पार्टी के हाथों में ताक़त आ गयी, अनुमान किया जा सकता है कि तभी से देश के कुछ पूंजीपतियों, बड़े-बड़े जागीरदारों, ज़मींदारों और देशी नरेशों ने संघ को खुले हाथों सहायता देना शुरू किया। लेबर-पार्टी के कार्यक्रम में भारत को स्वतंत्र कर देना शामिल था। इस हालत में हिन्दुस्तान में कांग्रेस का ताक़त में आ जाना सम्भव घटनाओं में गिना जाने लगा। कांग्रेस से पूंजीपतियों, जागीरदारों व देशी नरेशों को अपने अस्तित्व के प्रति भय हो सकता था, संघ से क़तई नहीं। संघ के प्रचारक देशी नरेशों को देश की 'रीढ़ की हड्डी' कहने लगे। पंजाब में संघ-विचारों के प्रचारक, साप्ताहिक आकाशवाणी (23-12-47) ने लिखा :

> सब कार्य इस रूप में होना चाहिए जिससे प्रजा भविष्य में भी राजाओं को हिन्दू संस्कृति के रक्षक और पोषक समझती रहे और उनका पूर्ण समर्थन करे।

नर-संहार के कार्य में इन्हीं राजे-रजवाड़ों से संघ के स्वयं-सेवकों को बड़े पैमाने पर अस्त्र-शस्त्र प्राप्त होते रहे।

देश की भिन्न-भिन्न समस्याओं के प्रगतिवादी समाधानों के विषय में एक विचारक के विचार ये हैं :

> इधर किंकर्तव्यविमूढ़ कांग्रेसी हर प्रकार की अव्यवस्था फैलाने में दत्तचित हैं। उनका दृष्टिकोण ही विचित्र हो गया है—'पूंजीपतियों का नाश हो।' 'ज़मींदारी ख़तम करो।' 'जात-पांत मिटादो।' 'विधवा-विवाह करो।' 'छुआछूत मिटा दो।' 'बड़ी-बड़ी योजनाओं के सब्ज़-बाग दिखाओ,

1. गणपतराय बा० गोरे, 'वैदिक धर्म', मार्च 1947

हिन्दुओं को पूर्णतया निःशस्त्र कर अरक्षित कर दो।' यह है जनता का स्वराज्य।[1]

राजनीतिक प्रश्नों पर उन्नत दृष्टिकोण की बात तो दूर की है, संघ के सर-संचालक गुरु गोल्वल्कर को सामाजिक पिछड़ेपन को चोट पहुँचाना भी भला नहीं जान पड़ता :

> हिन्दुओं की निन्दा करने में ही अनुरक्त लोग उनकी जात-पाँत, मूढ़-विश्वास, शिक्षा का अभाव, समाज में स्त्रियों का स्थान तथा हिन्दू सांस्कृतिक संगठन में सभी भाँति के सच्चे-झूठे दोषों को बहुत बड़ा स्थान देते हैं और दिखाते हैं कि हिन्दुओं की दुर्बलता पूर्णरूप से इन्हीं में निहित है। (राष्ट्रीयता, पृ० 67)

हिन्दू राज्य की प्रतिगामी माँग के और अशान्ति व अव्यवस्था के समर्थन में गुरु गोल्वल्कर ने (बम्बई, अक्तूबर, 47) कहा :

> कहा जाता है कि शान्तता से रहो, नहीं तो स्वतंत्रता चली जायेगी। दुर्बलता का परिचय देने वाली यह वाक्य रचना है। . कहा जाता है कि हिन्दू राज्य नहीं होना चाहिए, क्योंकि हिन्दू राज्य हो तो धर्म पर आश्रित हमारे पड़ोसी राज्य के साथ युद्ध करना पड़ेगा। युद्ध के नाम से दिल फटता है !

इस तरह संघ द्वारा देश में 'भारतीयत्व की महान् धारा', 'गौरवपूर्ण परम्परा', 'ध्येयवाद', 'अपनेपन की भावना', 'स्वराष्ट्र की विशुद्ध कल्पना', आदि को कार्यान्वित करने के प्रयत्न जारी हैं।

## संघ की ताक़त का स्रोत

देश के विभाजन से संघ को बहुत ताक़त मिली। इस संस्था का एक मूल-सिद्धान्त हिन्दू-मुस्लिम एकता का विरोध रहा है। जब देश का विभाजन इस आधार पर हुआ कि मुसलमानों को भी अपना स्वतंत्र राष्ट्र बनाने की इजाज़त मिलनी चाहिए, तो संघ की विचारधारा मज़बूत हुई। मुस्लिम लीग द्वारा पाकिस्तान की माँगके पहले संघ केवल कसरत करने का एकअखाड़ा था जहाँ पर कसरत के साथ-साथ उसी विषैली मुस्लिम साम्प्रदायिक मनोवृत्ति की सम्पुष्टि

1. श्रीचन्द पाण्डेय, 'वैदिक-धर्म', दिसम्बर 1947

हिन्दुओं में वैसी ही ज़हरीली साम्प्रदायिकता फैलाकर की जाती थी। लेकिन तब तकसंघ का प्रभाव हिन्दुओं की एक बहुत छोटी संस्था तक ही सीमित था। अँग्रेज़ की कूटनीति मुस्लिम फ़िरक़ापरस्ती की देश-विभाजन की माँग में जैसे-जैसे दम भरती गयी, संघ का प्रभाव-क्षेत्र उसी अनुपात से बढ़ता गया। आज़ादी के एक वर्ष पहले जब देश-भर में झगड़े-फ़िसाद होने लगे, तब स्वाभाविक प्रतिक्रिया के रूप में अधिकाधिक हिन्दू युवक भी कांग्रेस के सिद्धान्तों को बुरा-भला कह संघ की बातों में दिलचस्पी लेने लगे। देश के विभाजन का दिन संघ की राजनीति की विजय का दिन था। इस घटना से शहरी जनता के मध्यवर्ग ने यह सिद्ध करने की कोशिश की कि कांग्रेस की हिन्दू-मुस्लिम एकता की नीति ग़लत थी। कांग्रेस ने एकता की इस मृग-मरीचिका को ख़त्म करने के लिए साम्प्रदायिकता को जो रियायतें दी थीं, उन्हीं ने देश का अनिष्ट किया है। इस विचारधारा ने देश के पिछले तीस वर्ष के कुल संघर्ष को केवल हिन्दू-मुस्लिम हाथापाई के रूप में देखा, इस इतिहास में से अँग्रेज़ को बिलकुल ही निकाल दिया गया, क्योंकि हिन्दू अथवा मुस्लिम साम्प्रदायिकता ने अँग्रेज़ से तो कभी टक्कर न ली थी, बल्कि अँग्रेज़ की नीति द्वारा सींचे जाकर ही तो यह पौधे आज पनप रहे थे। देश की राजनीति में यह कँटीले झाड़-झंखाड़ बीसवीं सदी के शुरू में अँग्रेज़ ने ही बोये थे। उस सत्य पर परदा डालने की कोशिशें हिन्दुस्तान की राष्ट्रीयता और इसके संघर्ष को ही तथ्यहीन कहकर की जाने लगीं।

विभाजन का दिन केवल संघ की विजय का दिन ही नहीं था, बल्कि देश की साम्प्रदायिक विचारधारा की विजय का दिन था। मुस्लिम लीग को पाकिस्तान मिला, देश को आज़ादी दिलाने वाली संस्था को संघ चुनौती देने लगा, भ्रांत युवक राष्ट्र-पिता गांधी के अपमान तक उतर आये। गांधी की हत्या हिन्दुओं की उसी उच्छृङ्खल साम्प्रदायिकता का परिणाम थी जिसका नेतृत्व हिन्दुओं में संघ पिछले कुछ वर्षों से कर रहा था।

लेकिन इतिहास बतायेगा कि साम्प्रदायिकता की इस विजय में साम्प्रदायिकता को जिन-जिन जनता-विरोधी प्रतिगामी ताक़तों का सहारा लेना पड़ा, विजय उन्हीं प्रतिगामी ताक़तों की हुई, साम्प्रदायिकता के हथियार को तो उन्हीं प्रतिक्रियावादी ताक़तों ने अपना अस्तित्व बनाये रखने के उद्देश्य से बरता। साम्प्रदायिकता के इतिहास में एक बात और स्पष्ट दिखायी पड़ती है। कांग्रेस के नेतृत्व में स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए संघर्ष जितना कठोर होता गया, आज़ादी का दिन जितना नज़दीक आने लगा, देश की फ़िरक़ापरस्ती उतना ही ज़ोर पकड़ती गयी। स्पष्ट है कि एक तो विदेशी शासक इस साम्प्रदायिकता की ढाल का राष्ट्रीयता के हमलों से बचने के लिए अधिकाधिक प्रयोग कर रहे थे। दूसरे, स्वतंत्रता की प्राप्ति से देश के जिस भाग को अपने लिए ख़तरा बन सकता था—

जागीरदार, जमींदार, पूँजीपति, विदेशी नौकरशाही के समर्थक, जो लोग राष्ट्रीय संघर्ष से अब तक धोखा करते रहे थे—ऐसे सब लोग राष्ट्रीयता के विरुद्ध फ़िरक़ापरस्ती को सहायता और समर्थन देने लगे। अन्त में, जनता की आज़ादी के दिन को अँग्रेज़ और हिन्दुस्तान की सब प्रतिगामी ताक़तों ने मिलकर हिन्दू और मुसलमानों में देश के विभाजन का दिन बना दिया। यह विजय अँग्रेज़ की और प्रतिगामी ताक़तों की थी, जनता के किसी भाग की नहीं। साम्प्रदायिकता भी इस घिनौनी विजय का साधन-भर बनी।

आज़ादी के बाद देश में उसी साम्प्रदाकिता को जीवित रखना देश में जान-बूझकर जहरीले मवाद को बनाये रखना है और देश से द्रोह है, क्योंकि ग़ुलाम हिन्दुस्तान में फ़िरक़ापरस्ती अँग्रेज़ के इशारों पर नाचने वाली और उसकी नीति का समर्थन करने वाली ही एक ताक़त थी। विदेशियों द्वारा जीवन-प्राप्त इस कालिमा को अब धो देना ही श्रेयस्कर है। दुनिया के राष्ट्रों में स्वतंत्र राष्ट्र का स्थान प्राप्त करने के बाद देश की फ़िरकापरस्ती देश को बलवान नहीं होने देगी। फ़िरक़ापरस्ती की ताक़तें हिन्दुस्तान और एशिया की नयी ताक़त से परेशान साम्राज्यवादों का खेल ही खेलेंगी। हिन्दुस्तान कमज़ोर रहे, दुनिया की राजनीति में इसे प्रमुखता न मिले, दुनिया के कितने ही राष्ट्र दिल से यही चाहते हैं। हिन्दुस्तान को कमज़ोर रखने का एक तरीक़ा है—देश में आन्तरिक शान्ति न हो। ग़लत नारे लगाकर बेमतलब संघर्ष के चक्कर में जनता डोलती रहे। फ़िरक़ापरस्ती हमारे देश को चैन का साँस न लेने देकर उन्हें विदेशी ताक़तों का उल्लू सीधा कर रही है जो इस देश को सदा अशक्त, गिरा देखना चाहती हैं। स्पष्ट है कि जिस प्रकार फ़िरक़ापरस्ती ने ग़ुलामी के दिनों में अँग्रेज़ का और हिन्दुस्तान की प्रतिगामी ताक़तों का साथ दिया, अब आज़ादी के बाद दुनिया की हिन्दुस्तान-विरोधी ताक़तों के हित ही उससे सम्पन्न हो सकेंगे।

## हमारा कर्तव्य

इन पिछले पृष्ठों से संघ की विचार-धारा की दिशा का स्पष्ट पता चलता है। देश के सब प्रगतिवादी व्यक्ति और दल अवश्य अनुभव करेंगे कि इस विचारधारा को सुखा देना और इसके वाहन बनने वाले किनारों को मिटा देना ही देश के उज्ज्वल भविष्य के लिए परम आवश्यक है। लेकिन—जेल में कुछ हज़ार स्वयं-सेवकों को डाल देने से तो कुछ नहीं बन सकता। ज़रूरत तो इस बात की थी कि इनके विचारों की पोल—इनके फ़ासिस्ट आदर्शों आदि को नंगा करके जनता के सामने रखा जाता। देश की जनता के भविष्य को संघ से जितना भय है, उसे ध्यान में रखते हुए इसके विरुद्ध महान जन-प्रचार की आवश्यकता थी। इस कर्तव्य की पूर्ति में देश को सरकार और देश की जनता दोनों

ही चूक गयी हैं।

जिन पाठकों ने इस प्रकरण को ध्यानपूर्वक पढ़ा है, उनमें यदि थोड़ी भी देश-भक्ति और दूरदर्शिता है तो संघ के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकाण और कर्तव्य अपने-आप स्पष्ट हो जाना चाहिए। संघ के नेताओं और प्रचारकों के वक्तव्य इस वात की खुली गवाही देते हैं कि संघ की विचारधारा फ़ासिस्ट और प्रतिक्रियावादी है। कोई भी सोचने-विचारने वाला व्यक्ति आज हिटलर, मुसोलिनी और तोजो आदि के काले कारनामों और विनाशकारी नीतियों से परिचय रखकर अपने देश में पुनः उस क्रूर इतिहास की आवृत्ति न होने देगा। नाज़ी इतिहास का आधार झूठ, अविज्ञान, अबुद्धिवाद, अंध-विश्वास और जाति-विद्वेष था। उन्होंने वच्चों और नवयुवकों के मानसिक विकास और जिज्ञासा को विकसित होने से रोककर उनमें हर प्रकार की अमानुषिक और हिंस्र वृत्तियाँ बलात् ठूंस-ठूंसकर भरीं और अपने अधिनायक के प्रति एक तर्कहीन, अबौद्धिक, अंध-विश्वास पैदा किया। इस विचारधारा में पलकर उनके मन और वृत्तियाँ इतने विषाक्त और कलुषित हो गये कि जघन्य-से-जघन्य कार्य करने में भी उन्हें आनन्द और सन्तोष मिलने लगा। यहाँ पर विचारणीय है कि फ़ासिज़्म कोई सही और न्यायपूर्ण राष्ट्रीयता नहीं है; उसके दावों को यदि निरावरण करके देखा जाये तो जान पड़ेगा कि मध्य यूरोप के साम्राज्य-लोलुप पूंजीपतियों ने एक विशाल षड्यन्त्र रचकर जनता के लिए धोखे की टट्टियाँ खड़ी की थीं। दुर्बल मनों में शक्ति-प्रदर्शन द्वारा आतंक पैदा करना, जनता की आर्थिक समस्याओं से ध्यान हटाने के लिए किसी अल्पजाति के विरुद्ध हिंसा और द्वेष जगाना, नेता के प्रति अंधभक्ति पैदा करना—यह सब-कुछ उन साम्राज्यवादी उद्देश्यों को छिपाने का ही आडम्बर था। इस आडम्बर को वनाये रखने के लिए मनुष्य की नैतिक भावनाओं, इतिहास, संस्कृति, साहित्य और कला की सत्यवादी और मानववोधिनी परम्पराओं को नकारा गया और इस प्रकार एक मध्ययुगीन अंधकार-युग का जर्मनी, जापान व इटली में सूत्रपात हुआ। इसी कारण संसार की जनता ने इस वर्बरता का विरोध किया और गत महायुद्ध में फ़ासिस्टों की पराजय हुई। फ़ासिज़्म के इस निकटवर्ती इतिहास के आँखों के सामने प्रत्यक्ष रहते हुए देश की जनता का कर्तव्य है कि देश में इस अन्धकार-युग के प्रवर्तक संघ से बचकर रहे। जो नारे लगाये जा रहे हैं उनके परदों को हटाकर उनके पीछे झाँककर देखे कि मानव-इतिहास की वर्बरता कहीं भारत में छा जाने की कोशिश में तो नहीं है? साम्राज्यवादियों के विश्व-व्यापी षड्यन्त्रों की यह चाल थी कि हिन्दुस्तान का बँटवारा इस ढँग से और ऐसी परिस्थितियों में किया गया कि उससे साम्प्रदायिक द्वेष की ज्वाला फूट पड़ी। हमें इन षड्यन्त्रों और आगे आने वाले ख़तरों से अवगत होना चाहिए। फ़ासिज़्म के सम्बन्ध में इतने विस्तारपूर्वक

कुछ कहने की ज़रूरत इसलिए पड़ी कि संघ के नेता प्रत्येक बात में उनकी नीति और कार्य-प्रणाली का अन्धानुकरण कर रहे हैं। भेद केवल इतना है कि वह झूठ, धोखा और हिंसा के प्रचार की सम्पुष्टि में वेद, शास्त्रों और भगवान् कृष्ण जैसे अवतारों के जीवन के अनर्थक हवाले देते हैं। लेकिन ऐसा करने से यूरोप व भारत में फैलने वाले फ़ासिज़्मों की हक़ीक़त में कोई फ़र्क नहीं पड़ता।

## संघ के स्वयं-सेवकों से अपील

अतएव संघ के स्वयं-सेवकों से हमारा विशेष अनुरोध है कि वे पक्षपात-हीन होकर एक बार सोचने-समझने का प्रयत्न करें कि कहीं उनके संचालक और नेता उनको, और उनके साथ देश को, गुमराह कर उन्हें ग़ुलामी और अहंकार के गर्त में तो नहीं ले जा रहे ? अपनी बुद्धि, मानवता और जनवादी धारणाओं को मिटाकर हम कितने दिनों तक आज़ाद रह सकते हैं, यह विचारणीय है। मृगमरीचिकाओं के पीछे दौड़ना हमें शोभा नहीं देता। हर व्यक्ति को प्रत्येक विचारधारा, नीति और कार्यक्रम को जाँच-परख कर अपनाना चाहिए और इस जाँच-परख की कसौटी किसी धर्म या वर्ग का हित नहीं बल्कि देश में बसने वाली विशाल जनता का, जिसमें हर जाति और हर धर्म के लोग सम्मिलित हैं, हित ही हो सकता है।

इसी नाम से 1949 में प्रकाशित।

# साम्प्रदायिकता

अँग्रेज़ों के भारत से चले जाने के उपरान्त और साथ ही भारत के बँटवारे के फल-स्वरूप हमारे देश की राजनीति से मुस्लिम साम्प्रदायिकता के निकाले जाने के बाद आशा थी कि साम्प्रदायिकता के जिस विष ने देश के जीवन को पिछले चालीस वर्ष से जहरीला बना रखा था उससे हमें छुटकारा मिल जायेगा। परन्तु पिछले महीनों में जिस भाँति घटनाएँ घटी हैं उनसे प्रतीत होता है कि मुस्लिम साम्प्रदायिकता का स्थान उससे भी कड़वी हिन्दू व सिख साम्प्रदायिकता ने ले लेने का यत्न किया है। परिणामस्वरूप हम आज अपने जीवन को और राज-नीतिक दृष्टिकोण को उतना ही विषाक्त पाते हैं जितना वह अँग्रेज़ों की ग़ुलामी के दिनों में था।

ग़ुलामी के तौक़ को उतार फेंकने की अपूर्व विजय के समय यह कैसे सम्भव हुआ ? यदि हम इस प्रश्न का उत्तर पाने का प्रयत्न करें तो गत कुछ मासों का घटना-क्रम हमें स्पष्ट हो जाता है।

जैसे-जैसे स्वतंत्रता का दिन समीप आता गया—उन लोगों में, उन समाजों में, उन सरकारी नौकरों में, उन साम्प्रदायिक सभाओं में—जिन्होंने भारत के राष्ट्रीय स्वतंत्रता के संग्राम में दिनों सहयोग नहीं किया था—घबराहट फैलाने लगा कि अब देश-द्रोह की सज़ा भुगतने के दिन आ पहुँचे। स्वतंत्रता की महान् सफलता को हरा देने क़ा वह षड्यन्त्र करने लगे। देश की सभी प्रतिगामी ताक़तें षडयन्त्र में सम्मिलित हो गयीं। मार्च से लेकर अगस्त तक इस षड्यन्त्र में भारत से बाहर फेंके जा रहे विक्षुब्ध अँग्रेज़ ने पूरा हाथ बँटाया। उसने जनता में हथियार बाँटे। पिस्तौल, बम, बारूद, स्टेनगन, ब्रेनगन आदि जनता ने कहाँ और कब देखे थे ? अब पंजाब के शहर-शहर में, मुहल्ले-मुहल्ले, घर-घर में आधुनिक शस्त्र पहुँच गये। ये सब कहाँ से आये ? अँग्रेज़ के अतिरिक्त ये सब किस के पास थे ? स्वतंत्रता से 6 मास पूर्व ही इस महान् षड्यन्त्र ने स्वतंत्रता को हराने की योजनाएँ बना लीं और उन पर कार्य आरम्भ हो गया। जो क्रोध, क्षोभ और

जोश देश व समाज के प्रतिगामी अंशों के विरुद्ध प्रगट होना था उसे मुसलमानों के विरुद्ध और इसी भाँति पश्चिमी पंजाब में हिन्दू-सिखों के विरुद्ध व्यक्त किया जाने लगा।

कांग्रेस का स्वतन्त्रता-संग्राम केवल राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए ही नहीं था—इस संघर्ष ने जनता में आर्थिक व सामाजिक स्वतंत्रता के स्वप्न भी जगा दिये थे। इस संघर्ष के राजनीतिक रूप की समाप्ति पर आशा की जा रही थी कि देश में सामाजिक व आर्थिक स्वतंत्रता की ओर पग उठाये जायेंगे और बाह्य शत्रु को हटा देने के उपरान्त अन्दर के शत्रु से भिड़ा जायेगा, जो जनता के अधिकारों व हितों को उसी भाँति कुचल रहा था जिस प्रकार अँग्रेज़ हिन्द के राजनीतिक जीवन को। स्वतंत्रता के इस प्रकार के विविध ध्येय के कारण जहाँ अँग्रेज़, भारतीय उमंगों के शत्रु होते वहाँ देशी राजाओं, जागीरदारों, ज़मींदारों, सम्प्रदायवादी मुल्लाओं, पण्डितों, ग्रन्थियों (हिन्द में जागृति की बढ़ती लहर जिन के ढोंग के जाल को बहा ले जाती), पुराने सरकारी पिट्ठुओं व अवसरवादियों में भारतीय स्वतंत्रता-युद्ध के विरुद्ध भावना बढ़ती गयी। स्वतंत्रता-घोषणा के उपरान्त जनता की इस अनुपम जीत को किसी ने विदेशी सरकार से मिला तोहफ़ा कहकर उसकी ऐतिहासिक महत्ता को नीचा दिखाना चाहा, किसी ने इस जन-स्वतंत्रता के युग में गौ और ब्राह्मण के प्रभुत्व को फिर से जीवित करने का नारा लगाया। परन्तु जन-साधारण को अपने ध्येय से विमुख करने का अभी अन्तिम प्रयास होना शेष था।

प्रतिगामी ताक़तों को उस प्रयास का अवसर पंजाब में मार्च में शुरू हुए दंगों में मिला। जनता की जो अदम्य शक्ति उन अपने शत्रुओं के विरुद्ध लगती जो उसके सामाजिक व आर्थिक जीवन को शताब्दियों से नरक बनाये हुए थे, उस शक्ति को एक विशिष्ट सम्प्रदाय के विरुद्ध मोड़ देने का सफल प्रयत्न किया गया।

सीमा से इधर हिन्दू और सिखों ने मुसलमानों को कुत्तों की भाँति खदेड़ दिया। सीमा के उधर मुसलमानों ने हिन्दू और सिखों को अमानवीय साधनों का प्रयोग करके नये राज्य से निकाल बाहर कर दिया। दोनों ओर की जनता ने अपने भुजदण्डों का बल और साहस इस अर्थहीन, इस विनाशकारी सफलता में व्यय किया। इस प्रकार प्रतिगामी ताक़तें कुछ देर के लिए जन-साधारण को धोखा देने में सफल हो गयीं कही जा सकती हैं।

क्या वात है कि हिन्द की राजनीति के प्रसंग में हम धर्म के भेद को भूल ही नहीं सकते ? दुनिया-भर में अनेकों राष्ट्र हैं—बहुत कम राष्ट्र ऐसे हैं जहाँ के निवासियों में धर्म-भेद नहीं है, अमरीका के संयुक्त राष्ट्र में कोई ऐसा धर्म नहीं है जिसके अनुयायी उस राष्ट्र के वासी न हों। परन्तु वहाँ मुसलमान, बौद्ध और ईसाई धर्म के अनेकों भेदों के लिए भिन्न-भिन्न राजनीतिक प्रतिनिधित्व नहीं माँगा जाता। चीन में करोड़ों बौद्ध और करोड़ों ही मुसलमान हैं। परन्तु वहाँ भारत की-सी शरमनाक हालत कभी पैदा नहीं हुई। रूस में कितने ही धर्मों के लोग रहते हैं, परन्तु धर्म की दुहाई देकर राजनीति की सीढ़ी पर कभी किसी ने चढ़ना नहीं चाहा। इसी तरह ही दुनिया के कितने दूसरे देशों में भी है। हिन्द की यह दुर्भाग्यपूर्ण दशा क्या हुई ? यहाँ राजनीति की राह धर्म के जंगल में होकर ही क्यों आगे बढ़ती है ?

1906 में अँग्रेज़ का इशारा पाकर आग़ा ख़ाँ मुसलमानों के एक शिष्टमंडल को लेकर तत्कालीन वायसराय से मिले और एक अनोखी माँग पेश की। उन्होंने कहा कि मुसलमान होने के कारण मुसलमानों को धारा सभा में पृथक् प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए। वायसराय ने इस माँग को तुरन्त अपना आशीर्वाद दिया। अँग्रेज़ की इस योजना का विरोध मुसलमानों को छोड़कर हिन्द के सभी जाग्रत हलक़ों से हुआ। मुसलमान भी एक सम्मति से इस माँग के पीछे नहीं थे। प्रान्तों के गवर्नरों ने लिखा कि राजनीति में धर्म के आसरे भेद डालना अनुचित है और यह देश की राजनीतिक उन्नति को गृहयुद्ध की ओर ले जायेगा। शहर-शहर के अँग्रेज़ डिप्टी-कमिश्नरों ने इस योजना को प्रतिगामी कहकर पुकारा और इस की भर्त्सना की। हिन्दू-विचारधारा तो इसके एकदम विरुद्ध थी।

परन्तु अँग्रेज़ का अपने राज्य को मज़बूत करने से मतलब था हिन्द की जनता का जीवन, राजनीति, धर्म इससे दूषित हो जायेगा, इसकी परवाह किसे थी ?

धर्म की भिन्नता पर आश्रित चुनाव ने न केवल हिन्द के इन्सान और इन्सान के बीच दीवार डाल दी, न केवल हिन्द की राजनीति की दिशा कलह-विवाद और गृह-युद्ध की ओर धकेल दी, अपितु इसने हिन्द के सभी धर्मों को भी कलंकित कर दिया। धर्म की भावना धीरे-धीरे लोप होने लगी और उसकी जगह चोटी और जनेऊ, दाढ़ी और सुन्नत, केश और कृपाण की अहमियत बढ़ गयी। क्योंकि इन्हीं लक्षणों से राजनीतिक लाभ था—चाहे इसके धारी कितने ही बुरे हिन्दू, कितने ही बुरे मुसलमान व कितने ही बुरे सिख क्यों न हों।

वास्तव में हिन्दुस्तान की राजनीति में इस समय साम्प्रदायिकता का धर्म से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। प्रतिगामी ताक़तें मुसलमान-विरोधी नारे की आड़ में हिन्दु-

स्तान की राज्य-सत्ता को हथियाने की कोशिश कर रही हैं। पहले महा-युद्ध के पश्चात जर्मनी में समाजवादी-लोकतन्त्र की स्थापना हुई थी, परन्तु वहाँ की प्रतिगामी ताक़तों ने जर्मन-जाति के उत्थान के बहाने यहूदियों के विरोध के नारे की आड़ में हिटलर के आधिपत्य में राज्य-सत्ता हथिया ली। बिलकुल वही दृश्य आज हिन्दुस्तान में है। एक जाति को मिटा देने का नारा लगाया जा चुका है, अग्रगामी ताक़तों को उस जाति का दूत कहकर बदनाम करने की चेष्टा जारी है और नवयुवकों को फ़ौजी शिक्षा दी जा रही है। इन नवयुवकों में लोकतन्त्री भावनाओं के विरुद्ध विचार भरे जा रहे हैं। इन्सान की मौलिक माँगों की पुकार इनके कानों तक नहीं पहुँचने दी जाती। दुनिया के सामने समूचे रूप में जो सामाजिक, आर्थिक या राजनीतिक प्रश्न हैं उनके प्रति हमें अन्धा किया जा रहा है। हमारी जाति सर्वाग्रणी है, सर्वोपरि है, हमारा धर्म सर्वश्रेष्ठ है (हिटलर : जर्मनी की आर्य-जाति, मनुष्य-जाति का सर्वोच्च नमूना है)—यह इनका नारा है। मुसलमानों को मिटा दो, निकाल दो, हिन्दुस्तान से इनको भगा दो (हिटलर : यहूदी सदा से हमारे शत्रु रहे हैं, उन्होंने हमारी सभ्यता को कलंकित किया है)—यह इनका साधन है। फ़ौजी परेड, शारीरिक बल, क़वायद और यूनिफ़ार्म (हिटलर : स्टार्म-ट्रुपर्स और ब्राउन शर्टस)—यह इनका संगठन है। जिस तरह 1933 से 1939 तक जर्मन-जनता हिटलर की बढ़ रही ताक़त को मुग्ध-दृष्टि से देखती रही, उसी तरह पंजाब का (और शायद दूसरे प्रान्तों का भी) नागरिक इस आन्दोलन को देख व सह रहा है। परन्तु इस महा-प्रतिगामी ख़तरे को लोग भाँप नहीं रहे, क्योंकि इन्सान इतिहास से जल्दी सबक़ नहीं लिया करता और बिना हाथ-पाँव हिलाये ही चाहता है कि भलाई हो जाया करे।

प्रत्येक नागरिक को इस ओर से चेतावनी मिल जानी चाहिए। हिन्दुस्तान की जितनी अग्रगामी ताक़तें हैं उनका कर्तव्य है कि वह इस चुनौती का आगे बढ़ कर मुक़ाबला करें। जिन लोगों के हाथ में शासन-यन्त्र है वह यदि इस ख़तरे का प्रतिरोध करने के यत्न नहीं करते तो जनता से ग़द्दारी कर रहे हैं। इस अन्धकार, मार-काट, खूँरेज़ी की उपज को जनता में प्रचार और नवयुवकों की अपने कर्तव्य व राह की ओर चेता कर दबाना ही है। जो ताक़तें जनता के हितों के पक्ष में हैं, किसी विशिष्ट जाति, समूह व व्यक्ति-दल के स्वार्थ के लिए नहीं, उन्हें सरकारी समर्थन प्राप्त होना चाहिए जो आज पंजाब में उन्हें नहीं मिल रहा।

भले विचारों के लोगो, अग्रगामी विचारों के रखने वालो, एक हो जाओ! यदि एक समूचे देश को पीछे खींचने वाले एक होकर काम कर सकते हैं तो तुम जो देश को आगे ले जाने की इच्छा रखते हो, तुम क्यों नहीं एक हो सकते?

"आज की बात" में दिसम्बर 1947 में प्रकाशित।

# चालीस साल पहले की बात

1907 में जब अँग्रेज़ ने यह योजना प्रस्तुत की कि हिन्द में चुनाव धर्म-भेद के सिद्धान्त के अनुसार अलग-अलग हुआ करेंगे, तो इसका विरोध जनता के मुसलमान भाग के अतिरिक्त सभी ओर से हुआ, परन्तु ऐसे मुसलमान भी थे जो कि देख रहे थे कि एक भयंकर विष हिन्द की राजनीति की जड़ में दिया जा रहा है। आज 1947 में जो कुछ हुआ है इसकी अक्षरशः भविष्यवाणी चालीस साल पहले हो गयी थी। अँग्रेज़ अलग-अलग चुनाव की प्रणाली जारी न करता तो इतने वर्ष और राज्य कैसे करता ? आज के हिन्दू-मुसलमान-वैमनस्य का बीज अँग्रेज़ों के हाथ जानबूझकर डाला गया था—यह नीचे लिखे उद्धरणों से स्पष्ट हो जायेगा।

ये उद्धरण हिन्द सरकार की ओर से 1908 में प्रकाशित एक पुस्तक, (पेपर्स रिलेटिंग टु कान्स्टिट्यूशनल रिफ़ॉर्म्स इन इण्डिया—भाग 2) से लिये गये हैं।

मद्रास सरकार के पब्लिक-डिपार्टमेन्ट की ओर से स्थानापन्न चीफ़ सेक्रेटरी मिस्टर जे० एन० एटकिन्सन, सी० एस० आई०, आई० सी० एस० ने 13 मार्च, 1908 को लिखा (पृ० 108) :

"भारत सरकार द्वारा प्रस्तावित योजनाओं का कोई दूसरा अंश सर्व-साधारण और इतनी निश्चित अस्वीकृति से नहीं देखा गया जितना कि यह (धर्म-भेद पर आश्रित चुनाव सम्बन्धी) अंश। जाति, वर्ण और धर्म के प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त की जो प्रस्तावना की गयी उसकी प्रायः इसी कारण निन्दा की गयी कि यह भेद-भाव को बनाये रखेगा और जो बीच की रुकावटें सभ्यता के प्रसार के साथ-साथ धीरे-धीरे टूट रही हैं वह मजबूत हो जायेंगी। सरकार के विचार में इन आक्षेपों में सचाई है।"

1 दिसम्बर, 1907 को आर० सी० दत्त, सी० आई० ई०, रिटायर्ड मेम्बर ऑफ़ इण्डियन सिविल सर्विस ने लिखा :

"धर्म और जाति के भेद पर चुनाव-व्यवस्था का नया प्रस्ताव ख़तरे से भरा है। इससे ईर्ष्या और घृणा पैदा होगी। रोज़ के जीवन में भेद-भाव बढ़ेगा और भविष्य में जहाँ-तहाँ झगड़े-फ़साद भी हुआ करेंगे। इससे भिन्न-भिन्न जातियों व समूहों में ऐसी इच्छाएँ पैदा हो जायेंगी जो कभी पूरी न की जा सकेंगी, अशान्ति फैलेगी और शासकों की न्याय-परायणता और सचाई के विषय में सन्देह पैदा हो जायेगा।

19 दिसम्बर, 1907 को आर० फिशर एस्क्वायर ने लिखा (पृ० 137) :

"जाति, वर्ण व धर्म पर आश्रित चुनाव-पद्धति का निर्माण एक प्रतिगामी क़दम है और इससे जातीय भेद और वैमनस्य, जो देश की सब जातियों की उन्नति में बाधा सिद्ध होगा, उसको ज़ोर मिलेगा और वह बने रहेंगे। इससे हिन्दुस्तानी राष्ट्रीयता के एक हो जाने में रुकावट पड़ेगी।"

9 जनवरी, 1908 को टी० वेंकटा कृष्णय्या, बी०ए०एल०एल०बी०, वकील हाई-कोर्ट ने लिखा (पृ० 155) :

"जहाँ मेलजोल है और कोई भेद-भाव नहीं है—वहाँ भिन्न-भिन्न हित पैदा हो जायेंगे और उन्हें बढ़ती दी जायेगी।"

*

1907 में अँग्रेज़ ने हिन्द में भिन्न-भिन्न धर्मों में शत्रुता का बीज बोया था—जिसकी खेती हम आज काट रहे हैं। इसकी सच्चाई की प्रामाणिकता का यह दूसरा संकलन है।

एम० अजीजुद्दीन, ख़ाँ साहिब, ख़ाँ बहादुर, दक्षिणी कनारा के कलक्टर, ने 7 फरवरी, 1907 को लिखा (पृ० 165) :

"मैंने जिन-जिन भी हिन्दू सभ्यों से बात की है उनमें से प्रायःतर सभी धर्म पर आश्रित चुनाव-पद्धति और अलग-अलग प्रतिनिधित्व के विरोधी हैं—वे कहते हैं कि यह व्यवस्था जनता के संगठन में बाधा बनेगी और जो भारतीय-

राष्ट्रीयता अंकुर रूप में आज फूटती दीख रही है, उसके पनपने में रुकावट खड़ी हो जायेगी।

काइम्बटोर के कलक्टर आर० एच० शिल्पे एस्क्वायर, आई० सी० एस० ने 8 फ़रवरी, 1908 को लिखा (पृ० 176) :

"मैं यह ज़रूर कहूँगा कि इसी तरह यह मान लेना और इसी तरह मान लेने से उन्हें बढ़ावा देना—कि जनता में कितने ही जाति व धर्म के भेद हैं—हमारी नीति और परम्परा के विरुद्ध बात है। अलग-अलग प्रतिनिधित्व...के स्वीकार करने से निश्चय ही 'भेद करो और राज्य करो' की नीति कुछ अधिक व्यवहार में आ जाती है। ऐसा करना प्रतिक्रियावादी है...।"

रावसाहब टी० राघवीया पंजुलुगरु, डिप्टी-कलक्टर, के० पी० ए०, ने 13 फ़रवरी, 1908 का लिखा (पृ० 206) :

"जाति-भेद को मानने और देश के भिन्न-भिन्न धर्मों को अलग-अलग प्रतिनिधित्व देने से मेरी सम्मति में इतिहास की भुलाई गयी लड़ाइयों और झगड़ों को याद कराने की और जातीय व धार्मिक भेदों को बनाये रखने की प्रवृत्ति रहेगी और इसका असर यह होगा कि आज जो अग्रगामी आन्दोलन इस देश के लोगों की उन्नति और उन्हें एक करने के उद्देश्य से उठ खड़ा हो चुका है, उसके रास्ते में अवरोध पैदा हो जायेगा।"

ए० एम० पेरिआस्वामी मुध्याउदायार ने 26 दिसम्बर, 1907 को लिखा (पृ० 285) :

"उनसे (मुसलमानों से) यह पक्षपातपूर्ण व्यवहार मुसलमानों या दूसरी जातियों में शरारत के बीज बो देगा—यह जातियाँ अब तक ब्रिटिश सरकार के अधीन अपने भेद भुलाकर शान्तिपूर्वक रहती रही हैं।"

*

धर्म-भेद पर चुनाव-पद्धति की क़ानूनी स्वीकृति मिन्टो-मार्ले रिफ़ॉर्म्स के अनुसार मिली थी। परन्तु मिस्टर जॉन मॉर्ले को अपनी कौंसल में दो सीटें हिन्दुस्तानियों के लिए सुरक्षित करने को कहा गया तो उसने कहा, "यह सुझाव उस बात के लिए हमें कहता है जिसका सभी बुद्धिमत्तापूर्ण राजनीति विरोध करती है—अर्थात्

जातीय-भेद का डंका पीटना .... इसका अर्थ होगा क़ानून की किताब में मौलिक जाति-भेद की स्वीकृति लिख देना जबकि दुनिया में सभी जगह सभ्यता के उठाये जा रहे नये-नये क़दम उन्हीं भेदों को मिटा देने पर निर्भर हैं।" जाति-भेद धर्म-भेद को, लेकिन उन्हीं दिनों हिन्द की राजनीति का मूल बना दिया गया। इसके विरोध में प्रगट किये गये भाव पढ़िये :

दीवान बहादुर सी० रामचन्द्र राव साहब ने 26 फ़रवरी, 1908 को लिखा (पृ० 271) :

"मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि ऐसे भेद को मान लेने के मतलब होंगे जाति-द्वेष और दुर्भावना को प्रोत्साहन देना और बनाये रखना।"

आनरेबल के०सी० गुरुस्वामी अय्यर, बी० ए० बी० एल० एफ़० एम० यू०, मद्रास लेजिस्लेचर कौंसल के सदस्य ने 24 फ़रवरी, 1908 को लिखा (पृ० 274) :

"मैं यह कह दूँ कि इस देश में उन श्रेणियों, जातियों और धर्मों की बिना पर जिनमें इतनी देर इस देश के लोगों को राजनीतिक इकाई के रूप में अलग-अलग रखने और कमज़ोर करने की प्रवृत्ति रही है, राजनीतिक ढाँचे के निर्माण से शरारत-भरे और गम्भीर परिणाम निकलेंगे।"

मुहम्मद बाज़लुल्ला साहिब बहादुर, बी०ए०, हेड क्वार्टर डिप्टी-कलक्टर अनन्तपुर ने 13 जनवरी, 1908 को लिखा (पृ० 298) :

"जाति, वर्ण और धर्म से उपजे भेद हैं और रहेंगे, इस सत्य से इनकारी व्यर्थ है। परन्तु इन दुखदाई भेदों को लेजिस्लेटिव कौंसल के निर्माण का आधार बनाने से यदि उन्हें बढ़ावा नहीं मिलेगा तो छुपे तौर पर उन पर स्वीकृति की मुहर ज़रूर लगेगी। उत्तरी-सरकार और पश्चिमी-तट के मोपला मुसलमानों के हित एक समान नहीं हैं। इसका अवश्यम्भावी नतीजा यह होगा कि इस तरह चुनाव के अधिकार प्राप्त जनता के हाथों की कठपुतली बनकर रह जायेगी।"

*

अँग्रेज़ गुलामी के दिनों हिन्दुस्तान में पहली लेजिस्लेटिव कौंसल 1833 में बनी थी। 1833 से 1906 तक गवर्नर-जनरल-इन-कौंसल ने 1725 क़ानून बनाये, परन्तु इन 1725 क़ानूनों में एक भी क़ानून ऐसा नहीं था जो किसी एक विशेष

धर्म से सम्बन्ध रखता था—इस धर्म-भेद को मानता था। लेकिन 1906 में अंग्रेज़ को सूझा कि इनमें से कोई एक क़ानून भी ऐसा नहीं था जो न्याय-दृष्टि में धर्म-भेद का आश्रय लेकर हिन्दू व मुसलमानों को अलग-अलग कर दिया जाये। इस योजना का किस तरह विरोध किया गया था—यह पढ़िये।

पी० केशन पिल्लाई अवर्गल लीडर गुटी ने 17 फ़रवरी, 1908 को लिखा (पृ० 303) :

"यदि इस योजना को चालू किया गया तो यह निश्चयपूर्वक पुराने ज़ख़्मों को ताज़ा करेगी, ईर्ष्या पैदा करेगी, और भेद-भावों को बढ़ायेगी जिनमें बीते समय की सब अच्छाइयों पर पानी फेर देने की प्रवृत्ति होगी।"

रेवरेण्ड जी०एच० मैकफ़ार्लेन ने जो 1888 में हिन्दुस्तान में पादरी का काम कर रहे थे, 1 जनवरी, 1908 को लिखा (पृ० 308) :

"इस योजना का मतलब यह होगा कि वह भेद-भाव जो काफ़ी हद तक मिट चुके हैं और जो समय के साथ-साथ बिलकुल लोप हो रहे हैं और जिनके विषय में कि सब सुधारक यही चाहते हैं कि जहाँ तक संभव हो ये मिट जाने चाहिए और जिन्हें शासकों से कोई समर्थन नहीं मिलना चाहिए, बने रहें।"

जे० डी० ऐटकिन्स कमिश्नर, एन० डी० डब्ल्यू० डोडरेट, आई० सी० एस०, कमिश्नर सी० डी० और आनरेबल मिस्टर आर०पी० बैंसे, आई०सी०एस० कमिश्नर एस०डी० ने एक सांझे पत्र में 10 जनवरी,1908 को लिखा(पृ०459) :

"हमारे विचार में इस तरह जाति-भेदों को बढ़ावा देना उचित नहीं है और हमें यह भी मालूम है कि यह सिद्धान्त कि कोई विशेष जाति अपनी जाति के ही प्रतिनिधि को चुने, चुनाव के बृहत्तर सिद्धान्त से मेल नहीं खाता, अर्थात् व्यक्ति का अधिकार है कि अपने किसी भी प्रतिनिधि को चुन सके।"

महाराजकुमार सर प्रद्योतकुमार टैगोर ने, जो ब्रिटिश एसोसिएशन के मंत्री थे, 10 दिसम्बर, 1907 को लिखा (पृ० 515) :

"भेदी चुनाव शरारत से भरे हैं और हिन्दुस्तान में भिन्न-भिन्न जातियों में जो मेल बढ़ रहा है उसे तोड़ देने की प्रवृत्ति उनमें है।"

*

अँग्रेज़ कहते थे कि मुसलमानों को साँझे चुनाव में उचित प्रतिनिधित्व नहीं मिल रहा, इसलिए उन्हें अलग प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए। संयुक्त प्रान्त के चीफ़ सेक्रेटरी ऑनरेबल मिस्टर जे०एम० होलमस, सी० एस० आई, ने इसे ग़लत बताते हुए कहा (16 मार्च, 1908)—"म्यूनिसिपैलिटियों की आबादी में मुसलमानों का अनुपात हिन्दुओं से 1 से 1.6 का है। मोटे तौर पर यह अनुपात सारे प्रान्त के लिए 1 से 6 का है। परन्तु म्यूनिसिपैलिटियों की सदस्यता में यह अनुपात 1 से 1.8 का है और डिस्ट्रिक्ट बोर्डों में 1 से 2.4 का। यह नहीं कहा जा सकता कि आधुनिक चुनाव-प्रणाली से मुसलमानों के विरुद्ध पक्षपात हो रहा है। इन आँकड़ों से जो नतीजा निकलता है उसकी ज़िला मैजिस्ट्रेटों से प्राप्त हुई दूसरी रिपोर्टों से भी संपुष्टि हो जाती है।" लेकिन यह तो महज़ एक बहाना था। अलग-अलग चुनाव की प्रणाली तो हिन्दुस्तान में गृह-युद्ध के बीज बोने की चाल थी। इस योजना के विरुद्ध किन-किन शब्दों में विरोध किया गया, वह निम्नलिखित उद्धरणों से जानिये :

संयुक्त प्रान्त के गवर्नर की ओर से उनके सेक्रेटरी ने 16 मार्च, 1908 को लिखा (पृ० 624) :

"लेफ्टीनेन्ट-गवर्नर के विचार में यह बड़े अफ़सोस की बात होगी कि चुनाव-प्रणाली में धर्म पर आश्रित भेद-भाव मिटाकर इस समय हिन्दू और मुसलमानों में जो दोस्ताना सम्बन्ध हैं उनसे छेड़छाड़ की जाये।"

आनरेबल राजा प्रतापबहादुरसिंह, सी०आई०ई०, ने (जो किला प्रतापगढ़, अवध के थे) 27 दिसम्बर, 1907 को लिखा (पृ० 658) :

"यह चुनाव-प्रणाली हिन्दुओं और मुसलमानों में और भी गहरी खाई खोद देगी।"

गोरखपुर डिवीज़न के स्थानापन्न कमिश्नर डब्ल्यू०आर०पार्टरिज ने फ़रवरी, 1907 को लिखा (पृ० 682) :

"मैं इन प्रस्तावों के क़तई विरुद्ध हूँ, मेरे विचार में 'भेद करो और राज्य करो' की नीति पर चलने की हमारी मन्शा नहीं है। हमें चाहिए कि धार्मिक, जातीय, वर्ण अथवा व्यवसाय सम्बन्धी भेदों को मिटाने को हम प्रोत्साहन दें, बजाय इसके कि चुनावों को प्रस्तावित कड़े हिस्सों में बाँटकर इन भेदों को समर्थन

दें अथवा इनका महत्व बढ़ायें।"

आज़मगढ़ के कलक्टर और मैजिस्ट्रेट सी० ई० क्राफ़र्ड एस्क्वायर ने 20 जनवरी, 1908 को लिखा (पृ० 696) :

"मुझे तो निश्चय तौर पर अनुचित जान पड़ता है कि शासन के मामलों में सरकार द्वारा यह मान लेना और इतने भेद-बरताव करना कि हिन्दू व मुसलमानों के हितों में कोई भी सच्चा फ़र्क है। अलग-अलग चुनाव की पद्धति से मन-मुटाव बढ़ेगा और मैं समझता हूँ कि दोनों तरफ़ प्रतिनिधियों के रूप में असहन-शील व्यक्ति चुन लिये जाया करेंगे।"

पंजाब सरकार के चीफ़ सेक्रेट्री ऑनरेबल मिस्टर ई० डी० मैक्लेगन, सी० एस०आई० ने लिखा (पृ० 713) :

"किसी भी न्यायकारी सरकार के लिए यह परमावश्यक है कि किसी विशेष जाति से इस तरह के विशेष पक्षपातपूर्ण व्यवहार को समर्थन न दे।"

"आज की बात" में दिसम्बर, 1947 में प्रकाशित।



# शब्द और व्यवसाय

# हिंदी प्रकाशन की समस्याएँ

अतीत काल से कहा जाता है कि भारत की एकता उसकी बहुमुखी विविधता में ही खोजी जा सकती है। शायद किसी भी अन्य इतने वृहद् आकार के और प्रजातांत्रिक देश की भारत से तुलना नहीं की जा सकती। इस देश में उपयोग में आनेवाली कोई एक व्यापक भाषा नहीं है; इसके निवासियों के मर्म को एक सूत्र में पिरोनेवाला किसी एक धर्म, किसी एक संस्कृति का धागा नहीं है; सर्व-स्वीकृत कोई भेष या पहरावा या खान-पान, रहन-सहन का कोई एक ढँग तक नहीं है। जहाँ देश की यही विविधता इसकी विशिष्टता है, इसे विभाजित रखने-वाला एक महत्वपूर्ण दूसरा तत्व भी है—इसकी जनता के तीन-चौथाई से अधिक भाग का गाँवों में रहना—और प्रायः उसी प्रकार रहना जैसा कि दुनिया-भर के लोग विज्ञान के युग में पदार्पण से पहले रहा करते थे। उनकी मानसिक और सामाजिक संरचना अभी तक वैसी ही है, कम-से-कम ऊपर से, जैसा कि शताब्दियों पहले थी, यद्यपि उसमें अब जहाँ-तहाँ दरारें दिखायी पड़ने लगी हैं और असीम समुद्र की शांत सतह पर जैसे उसके भीतर की गहराई में बहने वाले महान-नदों की उद्दाम धाराओं का पता नहीं चलता, वैसे ही आज देश के दूर भीतरी अंतर में बाहरी संस्कृतियों की बर्फ़ीली चट्टानों के प्रतिरोध से अंदर-ही-अंदर जिस तरह मंथन हो रहा है और उस अदृश्य हलचल और गहरी अशांति के चलते भविष्य में जीवन-धारा किस तरफ़ मोड़ ले लेगी, नहीं कहा जा सकता।

उन गाँवों का इतनी लम्बी-चौड़ी दुनिया से कोई सरोकार नहीं है, और अपने ही देश का नगरवासी भाग भी उनके लिए उसी अपरिचित दुनिया का भाग है। उन तक पहुँचने के रेडियाई माध्यम भी इस रूप में और इस हद तक उन्हें प्रभावित नहीं कर पाते, क्योंकि रेडियो-तरंगों को खींच-बाँधकर उन्हें आदमी की आवाज़ में फिर से परिवर्तित करनेवाले उतने रेडियो-रिसीविंग सेट्स ही देश में नहीं हैं; उन्हें ख़रीद सकें, इतनी क्रय-क्षमता ग्रामीणों की नहीं है, और किसी राज्य या केन्द्र का शासन ख़रीदकर उन्हें दूर-दूर तक बाँट सके, इतने

किसी के साधन नहीं हैं। एक बार किसी तरह देशी या विदेशी अनुदान से वे कहीं वँट भी जायें, तो यंत्र में किसी भी प्रकार की, किंचितमात्र भी गड़वड़ हो जाने पर उसे ठीक करने की निपुणता वहाँ नहीं है, और इन इलेक्ट्रॉनिक यंत्रों को तो विगड़ने का वहाना-भर चाहिए।

सो, एक प्रकार से इस देश की महाभूमि पर दो भारत वसते हैं--एक है नगरों का भारत, जो पश्चिम के संपर्क में आकर शेष, लेकिन अपने से चौगुने भाग से कटकर एक ऐसी दौड़ में लग गया है जो कि गाँवों में रहनेवाले बड़े ओर असली भारत के न तो बूते की वात है और न परंपरावश उस तरफ़ उसका विशेष झुकाव ही है।

हिंदी, विभिन्न अनुमानों के अनुसार, गाँवों और नगरों में वसनेवाले इस देश के 60 करोड़ वासियों में से 20 से 40 करोड़ तक लोगों की भाषा है। निश्चित रूप से इस संख्या को भी अभी तक नहीं वताया जा सका है, क्योंकि सच्चाई पर परत-दर-परत राजनीति ने, स्थानीय या प्रादेशिक नेता-गीरी या दादा-गीरी ने, या स्थानीय और प्रादेशिक आकांक्षाओं ने, झूठ के कई आवरण डाल रखे हैं। सच तो शायद यह है कि मातृभाषा के रूप में काफ़ी छोटी जनसंख्या ही हिंदी पर अपना दावा जता सकती है। उत्तर प्रदेश का जो निवासी घर में व्रज या अवधी, भोजपुरी, वघेली या वुंदेलखंडी वोलता है, वह खड़ी वोली हिंदी को जव अपनी मातृभाषा कहता है तो अपने अलावा देश और भाषा को भी छलता है। जिस पंजावी को जीवन के औपचारिक क्षेत्र से हटते ही हिंदी का व्यवहार छोड़कर अपने अनौपचारिक और सहज जीवन में पंजावी का सहारा लेना पड़ता है, लेकिन फिर भी जिसका दावा हिंदी-भाषी होने का वना रहता है, तो वह केवल राजनीतिक दवावों के कारण ही। यह आत्म-प्रवंचना देश के समस्त हिंदी-भाषी प्रदेश में फैली हुई है और वह जिस सांस्कृतिक उलझन को जन्म देती है, उसकी थाह नहीं है। अपनी मातृभाषा—जनपदीय वोलियों को नकारकर हम सवसे गहरे, वास्तविक और जीवन के आदि-स्पर्श से अपने को काटते चले आ रहे हैं और यह कटाव, यह अलगाव हमारे समस्त जीवन में एक द्विविधा और दुविधा पैदा करता रहा है—उसी 'द्विविधा' को जिसे अँग्रेज़ी में "हिपॉक्रिसी" या "डाइकॉटोमी" कहते हैं, और जो अपने वारे में कहने-सुनने में वहुत अच्छा नहीं लगता।

इतना कुछ भूमिका के रूप में मुझे केवल यह जानने के लिए कहना पड़ा कि प्रकाशन की किस-किस क्षेत्र और पक्ष की समस्याओं पर मुझसे कहना अपेक्षित है? किस भाषा की, किस भाषा के किस सांस्कृतिक पक्ष की? नगरों की या गाँवों की? नगरों में भी उन लोगों की, जिनकी कि कुछ अँग्रेज़ी पढ़-लिख जाने पर और भौतिक रूप से कुछ अधिक संपन्न होने पर सांस्कृतिक जड़ें उखड़

गयी हैं, या उन अन्य लोगों की जिनके कि पाँव अभी इसी धरती पर हैं ? क्योंकि प्रकाशन-कार्य तो, चाहे थोड़ी ही मात्रा में हो, इस भूमि पर रहनेवाले तथाकथित हिंदी-भाषी नागरिक और ग्रामीण—दोनों समाजों के प्रत्येक वर्ग, प्रत्येक मनोवृत्ति के लिए हो ही रहा है, और प्रत्येक क़िस्म के प्रकाशन की मूल समस्या एक-दूसरे से उतनी ही भिन्न है जितने कि उसके निवासियों के मानसिक और भौतिक परिवेश। यदि केवल ऐसी समस्याओं पर ही कुछ कहना मुझसे अपेक्षित है कि काग़ज़ मँहगा हो रहा है, छपाई और जिल्दवंदी के आधुनिक साधनों के उपलब्ध न होने के कारण उनका उपयोग नहीं हो पा रहा, या वे उपलब्ध हों भी तो उसके लिए आवश्यक पूंजी का अभाव है, तो समस्या केवल हिंदी-प्रकाशन की नहीं रह जाती—उस दृष्टि से देश की सभी भाषाओं के प्रकाशन की समस्याएँ एक-बराबर हैं और उनके हलहो जाने पर भी सब भाषाओं और सभी प्रकार के प्रकाशनों की मूल समस्या हल हो जायेगी, यह नहीं कहा जा सकता।

हिंदी में गाँवों के साक्षर लोगों के लिए साहित्य छपता है, और काफ़ी प्रचुर मात्रा में—लेकिन उनकी सीमा-रेखा धार्मिक साहित्य से कोकशास्त्र तक ही खिची है—बीच में परंपरागत, मध्यकाल में बहुत-सी आयातित या देशज कथा-कहानी का समावेश भी है, जिनका संबंध फिर मनुष्य की आदिम प्रवृत्तियों से है—उन अलौकिक शक्तियों से जो मनुष्य की समझ और पकड़ से बाहर की हैं अथवा उनसे जो कि उसकी देह और उसकी पंचेन्द्रियों को चंचल किये रहती हैं और जिनकी विवश करनेवाली प्रेरणा से यह सृष्टि-क्रम अबाध रूप से चलता चला है। उस प्रकाशन-जगत के विस्तार का कुछ अनुमान होते हुए भी चूँकि मुझे उसका अंतरंग परिचय नहीं है, इसलिए उसकी समस्याओं के बारे में कुछ कहने का मैं अधिकारी नहीं हूँ।

भारतीय नगरों की आबादी का एक बड़ा और मध्यवित्तीय भाग, जो गाँवों से ही आया है, किसी रूप में आधुनिक संस्कृति से परिचालित उन मनोवृत्तियों के प्रति कोई सहानुभूति सक्रिय रूप से अपने में नहीं जगा सका, जो कि आज के देशी और विदेशी साहित्य में प्रतिबिंबित होती है। वह आज का नागरिक होते हुए भी मन के हिसाब से कुछ सौ या हज़ार वर्ष पहले की दुनिया में जीता है। आज की वैज्ञानिक और तकनीकी सभ्यता ने आदमी को जीवन की जिस चूहा-दौड़ में लगा दिया है, उसमें उसे प्राय: परास्त होकर ही रहना पड़ता है। हिंदी में उसके लिए भी प्रचुर मात्रा में साहित्य प्रकाशित होता है जिसका प्रयोजन किसी बच्चे को बहलाने के लिए दिये जानेवाले खिलौने से (या रोते हुए बच्चे को रबड़ की बनी उष्महीन चुसनी से) अधिक कुछ नहीं होता, ताकि वह आंतरिक व्यथा अथवा फ़ुरसत के क्षणों में अपने को परचा सके।

मैं उस साहित्य की कोई आलोचना नहीं कर रहा हूँ—ज़िंदगी के तपते हुए रेगिस्तानों में इसी पलायनवादी साहित्य की छाँह में यदि वह कुछ देर के लिए सुस्ताकर अपने को छलता है और सुख पाता है, तो उसे इससे वंचित करने का अधिकार किसी को है ? उस अधिकार का प्रयोग करने से पहले इस चूहा-दौड़ को, और इन पलायनवादी मनोवृत्तियों की अपरिहार्य आवश्यकताओं को दूर करना ज़रूरी है जो कि इस निबंध का निश्चय ही विषय नहीं है। हमारे प्रायः सारे पॉकेट बुक साहित्य का, ऐयारी और जासूसी के साहित्य का, सस्ते और हलकी-फुलकी क़िस्से-कहानियों का यही प्रयोजन है और वह समाज के एक अच्छे-ख़ासे भाग की आवश्यकताओं की पूर्ति कर रहा है। ऐसे साहित्य के प्रकाशन की समस्याएँ अलग हैं और यहाँ मैं उनकी चर्चा भी नहीं करने जा रहा हूँ, हालाँकि उन समस्याओं से अपरिचित नहीं हूँ, और भुक्त-भोगी भी हूँ। बहुत समय पहले विभिन्न उद्देश्य लेकर आज की पॉकेट बुकों से वस्तुगत दृष्टि से विभिन्न विषयों पर मैंने पॉकेट बुकें छापी थीं, लेकिन अपने उस दुस्साहसी प्रयास का फल किसी भी अन्य किसी कर्म या दुष्कर्म की तरह भोगना ही पड़ा।

नागरिकों का वह अंश भी कोई छोटा नहीं है जो सम्पन्न है, वह अपनी संस्कृतिविहीन सत्ता पर कृत्रिम आधुनिकता ओढ़े रहता है। यदि आधुनिकता का एक विशिष्ट अभिप्राय और अर्थ है तो वह चेतना के स्तर पर युक्ति-युक्त और विवेक-संगत होने में है, लेकिन आधुनिकता के इसी पक्ष के अलावा उसका सब बाह्याडंबर इस वर्ग ने अपना लिया है। उसे 'पुस्तक' नाम की किसी चीज़ से कुछ लेना-देना नहीं है—वह एक मास में हज़ारों रुपये फ़ैशन के कपड़े-लत्तों पर, घर के साज़-सामान पर, सिनेमा और मनोरंजन के अन्य साधनों पर, बदन और चेहरे की विभिन्न प्रकार की लीपा-पोती पर ख़र्च कर सकता है, लेकिन पुस्तक पर एक पैसा नहीं। ग्रामीण जनता द्वारा पढ़ा जाने वाला साहित्य उसके लिए "फ़ैशनेबुल" नहीं रहा, न वह इस ढँग से ही प्रकाशित होता है कि उससे इस वर्ग के ड्राइंग-रूम की अलमारियाँ सज-सँवर सकें। उसके लिए जिस प्रकार की पुस्तकों की ज़रूरत है, या जिन्हें वह ख़रीदने की ओर प्रवृत्त हो सकता है, या किया जा सकता है, उनका अभी हिंदी में प्रकाशन नहीं हो रहा—वह प्रकाशन विदेशों में काफ़ी मात्रा में होता है, लेकिन व्यय और मुद्रण आदि की आधुनिक तकनीक के प्रयोग से ही साध्य है।

प्रकाशन का एक और क्षेत्र है – विभिन्न स्तरों की शिक्षा के उपकरण के रूप में पुस्तकों का प्रकाशन। दुर्भाग्य से इस क्षेत्र पर क्रूर और निम्न-स्तरीय व्यावसायिकता प्रायः इतनी हावी हो चली है कि उस क्षेत्र के क्रिया-कलाप ोक 'प्रकाशन' की संज्ञा न देकर महज़ एक बाज़ारू धंधा कहना सत्य से बहुत दूर न

होगा। प्रकाशन जैसी एक उच्चकोटि की वृत्ति को इस शिक्षा-क्षेत्र की किताबों के निम्न धंधे ने ही विशेष बदनामी दी और दिलावायी है। अँग्रेज़ी शासन-काल की अँग्रेज़ी प्रकाशन-संस्थाओं की भारतीय शाखाओं को छोड़कर, जिनका हिंदी-शिक्षण के क्षेत्र में योगदान काफ़ी सीमित रहा, हिंदी की कुछ देशी प्रकाशन-संस्थाओं का योगदान ऐसा ज़रूर रहा है, जिन्होंने न तो अपने स्तर को ही गिरने दिया और न व्यावसायिकता के अदम्य आकर्षण के सामने पूरी तरह समर्पण ही कर दिया। ऐसी संस्थाओं ने पाठ्य-पुस्तकों के प्रकाशन से लाभ में अर्जित पूँजी से साथ-साथ हिंदी के अन्य साहित्यिक और महत्वपूर्ण प्रकाशन भी निकाले, उस समय जब कि जनरल पुस्तकों के प्रकाशन देश में प्रायः थे ही नहीं। लेकिन ये पुरानी प्रकाशन-संस्थाएँ समय के क़दमों के साथ क़दम मिलाकर आगे न बढ़ सकीं और आज अपने वंशजों में प्रायः विभाजित और टुकड़े-टुकड़े होकर या अन्यान्य कारणों से वे प्रायः मृतप्राय हो चुकी हैं। उनके अभाव की पूर्ति जिन संस्थाओं ने की है, उनका उद्देश्य केवल किसी तरह पैसा बनाना है—शिक्षा का प्रचार-प्रसार और उसके उपकरण—पुस्तक का स्तर उनके लिए संयोग की बात या केवल प्रसंगवश ही है। इस क्षेत्र की जो समस्याएँ हैं, वे भारी-भरकम लक्ष्यों और भ्रामक दावों के लवादों से ढककर प्रदर्शित होती रहती हैं। मेरे इस निबंध में उनके बारे में अधिक कुछ कहने-सुनने की गुंजाइश नहीं—एक इस बात को छोड़-कर कि यदि शिक्षा-क्षेत्र के अधिकारियों में समझ-बूझ का इतना अधिक अभाव न होता तो वह शिक्षा-क्षेत्र के प्रकाशक के माध्यम से जो कि हिंदी के कुल प्रकाशन का 90 प्रतिशत भाग तो होगा ही—हिंदी प्रकाशन के समूचे स्तर को ऊँचा उठाने में कहीं अधिक समर्थ और सफल हो सकते थे। इस क्षेत्र के शिक्षा-अधिकारियों और बाज़ारू पुस्तकों के धंधे के बनियों की मिलीभगत ने जहाँ प्रकाशन को बदनाम किया है, वहीं शिक्षा के निरंतर ह्रास का दायित्व भी निश्चय उसी गँठजोड़ को उठाना होगा। ताली क्योंकि एक हाथ से नहीं बजती, इसलिए इसमें उन व्यावसायिक प्रकाशकों पर उँगली उठाते वक़्त शिक्षा-क्षेत्र के अधि-कारियों की ओर संकेत किये बिना कैसे रहा जा सकता है—उनका हाथ अपनी कुर्सी के कारण ही उन प्रकाशकों के हाथों से हमेशा कहीं मज़बूत रहता आया है!

दुनिया में साइंस और तकनीक का युग आ चुका है और तकनीकी प्रगति और उपलब्धियों का विपुल साहित्य विश्व के सब उन्नत देशों की अपनी-अपनी भाषाओं में उपलब्ध है। यद्यपि भारत भी शांतिपूर्ण उद्देश्यों के लिए भूमिगत अणु-विस्फोट सफलतापूर्वक कर चुका है, हिंदी में विज्ञान और तकनीक की पुस्तकों का अभाव है। हमारे देश का वातावरण इस हद तक अभी अविज्ञान और अंधविश्वास की जकड़ में फँसा हुआ है कि सूर्य अथवा चंद्रग्रहण लगने पर लोग स्नान करते हैं और इस प्रकार राहु और केतु द्वारा अपनी पापग्रस्त सत्ता की

सुरक्षा की व्यवस्था करते हैं। 12 वर्षों में एक बार प्रयाग के संगम पर करोड़ों लोग अपने जीवन के चरम लक्ष्य—मोक्ष—की प्राप्ति के लिए जमा होते हैं और यदि आधुनिक विज्ञान उनकी रक्षा टीके आदि लगाकर न करे तो हैज़े व छूत की अन्य बीमारियों से, या भीड़ में पैरों तले रौंदे जाकर ही, सीधे मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। मरकर मोक्ष-प्राप्ति की लिप्सा के कारण मृत्यु के सुदिन की प्रतीक्षा में सहस्त्रों नर-नारी जाकर काशी-वास करते हैं, क्योंकि काशी में मरने पर मनुष्य मोक्ष की राह के अलावा और कहीं नहीं जा सकता। यदि हिंदी में विज्ञान और तकनीक का साहित्य पर्याप्त संख्या में छपने लगे तो उसके जो सामाजिक परिणाम होंगे, उन्हें किस क़द्र किसी भी क्रांति से कम नहीं कहा जायेगा।

हिंदी में वैज्ञानिक व तकनीकी साहित्य क्यों नहीं छप पाया? इसके कारण की तलाश हिंदी-भाषियों की अपनी सांस्कृतिक भावभूमि में ही की जा सकती है। यह नहीं हैं कि देश में जो बड़े-बड़े भौतिकीविद (फ़िज़िसिस्ट) हुए हैं, उनमें से कोई हिंदी-भाषी नहीं था—स्वर्गीय डॉ० शांतिस्वरूप भटनागर को लें, या डॉ० दौलतसिंह कोठारी को, जो वर्षों यूनिवर्सिटी ग्रांट्स कमीशन के अध्यक्ष रहे। विभिन्न विशेषज्ञों के और भी अनेक नाम लिये जा सकते हैं—इनमें से अपनी भाषा हिंदी में किसी ने क्यों नहीं लिखा? अन्य भाषाओं में, जैसे मराठी, वंगाली आदि में, आधुनिक विज्ञान और तकनीक के विशेषज्ञों ने सहज और सुवोध भाषा में अपने लोगों के लिए लिखा है और इस प्रकार अंधविश्वास के विरुद्ध एक परिवेश वहाँ बना है।

विज्ञान व तकनीक की पुस्तकों के लेखकों का हिन्दी में अभाव अपने में एक समस्या है। इन विषयों की पुस्तकों के मुद्रण के सुलभ साधन भी हिंदी में उपलब्ध नहीं, यद्यपि केन्द्रीय हिंदी निदेशालय ने सब तरह की जोड़-तोड़ भिड़ाकर और लाखों रुपयों का व्यय करके वैज्ञानिक और तकनीकी शब्दावली को गढ़ लिया है—चाहे शब्द ऐसे गढ़े हों जो जाने कितने प्रयोग के बाद ही प्रचलित हो सकेंगे : जैसे कार के इंजिन के कंप्रेशन के लिए शब्द गढ़ा गया है : संपीडन। 'संपीडन' शब्द का इस्तेमाल अपने में एक पीड़ा से कम नहीं है। ख़ैर, इस विषयांतर से कोई लाभ नहीं, क्योंकि इस और ऐसे शब्दों पर सरकारी मान्यता की मोहर लग चुकी है और इनका उपयोग साइंस की पुस्तकें प्रकाशित करते वक़्त वलात् करना ही होगा।

प्रकाशन के क्षेत्र में वाल-साहित्य की अपनी विशिष्टता है—न केवल उसके वस्तु-कथ्य के कारण, वल्कि उस कथ्य के साथ जाने वाले आकर्षक, रंगीन चित्रों के रेखांकन और मुद्रण के कारण भी। इन चित्रों को वनाने के लिए हिंदी-क्षेत्र में चित्रकारों की भारी कमी है। यदि चित्रादि वनवा भी लिये जायें तो जब तक छपने वाली प्रतियों की संख्या काफ़ी अधिक न होगी, पुस्तकें वहुत मँहगी

पड़ेंगी और कम क्रय-शक्ति की हिंदी-भाषी जनता उन्हें ख़रीद न सकेगी। देश में असली मायने में बाल-साहित्य का प्रकाशन विभिन्न भाषाओं के प्रकाशकों की सम्मिलित योजनाओं द्वारा ही संभव है, जैसा कि यूरोप में रहा है। किसी भाषा का कोई प्रकाशक अगुआई करता है, समझबूझ की, सुंदर चित्रों से भरपूर पुस्तक तैयार करता है और यूरोप की अनेक भाषाओं के प्रकाशकों को उन पुस्तकों के केवल चित्र वाले फ़र्मे छापकर दे देता है, जिस पर विभिन्न भाषाओं की सामग्री अलग-अलग देशों में छपती है। इस प्रकार चित्रकार का, तथा रंगीन चित्रों की छपाई का ख़र्च लाखों प्रतियों पर फैलाकर, बहुत आकर्षक बाल-पुस्तकें काफ़ी सस्ते दामों पर अनेक देशों में बिक पाती हैं। रंगीन चित्रों के फ़र्मों की जगह फ़िल्म-पॉज़िटिव भी विभिन्न भाषाओं के प्रकाशकों को भेजे जा सकते हैं ताकि ऑफ़सेट प्रणाली से विभिन्न भाषाओं के प्रकाशक उन्हें छापने की व्यवस्था स्वयं कर लें। भारत में उत्कृष्ट बाल-साहित्य का काम इसी भाँति सफलतापूर्वक संपन्न हो सकता है—इस ओर नेशनल बुक ट्रस्ट, फ़ेडरेशन ऑफ़ इंडियन पब्लिशर्स अथवा अखिल-भारतीय हिंदी प्रकाशक संघ को प्रथम संयोजन की शुरुआत आदि का काम करना पड़ेगा।

हिंदी-भाषा में मुख्तयया (जैसा कि ऊपर कहा है, यूनेस्को के दो सम्मेलनों के निष्कर्षों के अनुसार) जो कुछ भी छपता है, उसके 80 से 90 प्रतिशत तक भाग का पाठ्य-पुस्तकों से संबंध होता है। बाक़ी 10 प्रतिशत में शेष सब विषयों की पुस्तकें प्रकाशित होती हैं—धार्मिक, सामाजिक, पॉकेट बुक्स, साहित्यिक पुस्तकें आदि। धार्मिक-साहित्य के प्रकाशनों की खपत अधिकांशतः गाँवों में या नगरों के निवासियों में होती है। बची साहित्य की पुस्तकों में सृजनात्मक और समीक्षात्मक दोनों प्रकार का ही साहित्य छपता है। यह हिंदी की ही विशेषता है कि यहाँ सृजनात्मक साहित्य कम और समीक्षात्मक साहित्य अधिक छपता है। इसे यूँ भी कहा जा सकता है कि सृजनात्मक साहित्य की कमी के कारण, या यूँ भी कि प्रकाशित होने के योग्य सृजनात्मक साहित्य की कमी के कारण, समीक्षात्मक साहित्य का प्रकाशन अधिक होता है। इस असंतुलन का एक कारण यह भी है कि शिक्षा-संस्थाओं, महाविद्यालयों आदि में पुस्तकें ख़रीदने की ज़िम्मेदारी जिन प्राध्यापकों पर रहती है, उनका संपर्क शिक्षण-क्षेत्र में प्रवेश कर लेने के बाद से ही (प्रायः पहले से भी) सृजनात्मक साहित्य से कटा हुआ रहता है और वे ज्यादातर समीक्षात्मक कृतियों को ही अपने पुस्तकालयों द्वारा ख़रीदे जाने के योग्य समझते हैं। उनमें प्रायः नये, अग्रगामी लेखन के प्रति सहानुभूति लेशमात्र भी नहीं होती, और यदि सरकारी अनुदान की राशि बची रही हो तो संभव है कि उसे कुल-का-कुल अनावश्यक आलोचना की पुस्तकों पर ही ख़र्च कर दिया जाये। अलबत्ता, सार्वजनिक पुस्तकालयों की बात इससे ठीक विपरीत है; उन

पुस्तकालयों में आकर पुस्तकें पढ़नेवाले पाठकों की रुचि समीक्षात्मक साहित्य में नहीं होती। इस कारण वहाँ जो भी, जैसा भी, सृजनात्मक साहित्य मिले, ख़रीद लिया जाता है। दुर्भाग्य यह है कि देश में सार्वजनिक पुस्तकालयों की संख्या बहुत कम है, और पुस्तकालय-आंदोलन को उस स्तर का सरकारी समर्थन प्राप्त नहीं है, जोकि अन्य सभ्य और उन्नत और विकसित देशों में प्राप्त है।

इस निबंध में चर्चा जिस प्रकार के प्रकाशन की समस्याओं पर करना अभीष्ट है, उसके प्रायः सभी प्रकाशकों की एक स्वर में एक ही शिकायत है—पुस्तकें नहीं बिकतीं। यह शिकायत प्रकाशन के जितने अन्य पक्षों का मैंने पहले उल्लेख किया है, उनकी नहीं है। थोड़े-से भी विचार से जो प्रकाशक गाँवों के लिए धार्मिक और क़िस्से-कहानी का साहित्य छापते हैं, बड़ी वयस के बावजूद कम उम्र में ही जिनकी मति और कल्पना की शक्ति अटक गयी है, उनके लिए जो पॉकेट बुक्स छापते हैं, स्कूल व कॉलेजों में प्रयुक्त पाठ्य-पुस्तकों की जो कुंजियाँ, चालू प्रश्नोत्तरी, समीक्षाएँ छापते हैं, उनमें से किसी की शिकायत नहीं है कि पुस्तकें नहीं बिकती हैं। शिकायत केवल उन्हीं प्रकाशकों की है जिनका दावा है कि वे केवल अच्छे साहित्य का प्रकाशन करते है।

इधर कुछ वर्ष पहले यूनेस्को ने एक विश्वव्यापी नारा दिया था : बुक्स फ़ॉर द मिलियन्स—अर्थात् लाखों-लाख जनों के लिए पुस्तकें ! एक बहुत बड़ा आयोजन इस नारे के समर्थन में इस देश में भी हुआ था। लेकिन विडंबना यह थी कि उस समस्त आयोजन में उन लेखकों को किसी ने घास तक नहीं डाली जिनकी पुस्तकें छपने पर लाखों की संख्या में बिकी हैं और अब भी बिकती हैं—इस आयोजन के मंच पर लेखक वही बिठाये गये और उन्हीं की पूछ रही जिनकी पुस्तकों की वर्ष में, करोड़ों लोगों की भाषा हिंदी में, कुछ सौ प्रतियाँ भी बिक जायें तो प्रकाशक को राहत मिलती है। इस विरोधाभास को अपने को समझाने-बुझाने के लिए, इस कम, बहुत-कम बिकने वाले साहित्य के लेखकों और प्रकाशकों ने एक आश्चर्यजनक सिद्धांत, एक अजीब तर्क, एक विस्मयकारी मूल मान्यता की घोषणा कर रखी है—**किसी पुस्तक का कम बिकना उस कृति के श्रेष्ठ न होने का लक्षण नहीं है, वरन् इस बात का प्रत्यक्ष, निश्चयात्मक प्रमाण है कि वही कृति श्रेष्ठ है। आम पाठकों की बूझ और पकड़ में यदि श्रेष्ठ साहित्य आ गया तो उसकी श्रेष्ठता ही कहाँ रही ?**

लेकिन अपनी लिखी या अपने यहाँ से प्रकाशित पुस्तकों की श्रेष्ठता के इतने पक्के सबूतों के बावजूद मुखर लेखकों और प्रकाशकों से बराबर शिकायत सुनने में आती है—हिंदी में पुस्तकें नहीं बिकतीं। तर्क और विचार की यह असंगति उन्हें अपने अंतर को कभी कुरेदने पर मजबूर नहीं करती कि पुस्तकों के न बिकने या कम बिकने का कारण कहीं उनके अपने कृतित्व या अपने यहाँ से प्रकाशित

साहित्य में ही तो नहीं है ? प्रकाशित साहित्य, जैसा कि पाठकों द्वारा ख़रीद की प्रतिक्रिया से पता चलता है, वही अधिक विकता है जो प्राणाश्रयी हो; रूपाश्रयी, या विचारश्रयी—जिसमें इधर छद्म-विचारश्रयी कृतित्व की बहुतायत होने लगी है—साहित्य प्रायः नहीं विकता, या कम विकता है।

पुस्तकों के कम बिकने के प्रश्न को लेकर ही लेखक और प्रकाशक में तनातनी है, या पैदा होती और बढ़ती है। इस शिकायत से लेकर कि उनकी इतनी अच्छी पुस्तकों के प्रचार-प्रसार और विज्ञापन पर प्रकाशक इस हद तक ख़र्च नहीं करते, जैसा कि पॉकेट बुक्स के प्रकाशक जन-साधारण में विकने वाली सस्ती पुस्तकों पर करते हैं, यह शिकायत इस अपवाद तक खींचकर ले जाती है कि संभव ही नहीं है कि उनकी पुस्तकें इतनी कम विकती हों—प्रकाशक कहीं ज़रूर घपला करता है और ज्यादा तादाद में उनकी कृतियों को छाप-बेचकर उनके लाभांश से उन्हें वंचित रखता है, उन्हें ठगता है। ऐसा कथन अपने-आप में और अपने कृतित्व में उनके विश्वास को डिगने से बचाये रखने के लिए हो तो समझ में आ सकता है, लेकिन प्रश्न का इतना सरलीकृत समाधान सही नहीं है। पंजाबी में एक कहावत है—नंगी नहायेगी क्या और निचोड़ेगी क्या ! प्रकाशक यदि किसी कृति को प्रकाशित करके उसे वेच नहीं पाते तो वह किस लाभांश को लेखकों को देंगे और मुनाफ़े के किस हिस्से को अपने पास रखेंगे ?

अपने पाठकीय और प्रकाशकीय अनुभवों से मेरा यह कहना है कि स्वतंत्रता-उपलब्धि के बाद से एक ऐसी प्रक्रिया हिंदी में शुरू हुई जिसको लेकर पाठकों की रुचि की उतरोत्तर उपेक्षा होती गयी है। मैं इसका कारण खोजने में सक्षम नहीं हूँ, लेकिन इतना दावे के साथ कह सकता हूँ कि पाठकों की माँग और रुचि को, और उनको पढ़ने और समझने की क्षमता को कृतित्व के सृजन के क्षणों में ध्यान में रखना लेखकों द्वारा प्रायः अत्यंत उपेक्षणीय, टुच्ची और घटिया बात माना जाने लगा है। लेकिन, इस प्रक्रिया और प्रवृत्ति के परिणाम को सहर्ष स्वीकार करने के लिए न तो एक मिथ्या-दंभ से आक्रांत लेखक ही तैयार है और न संबंधित प्रकाशक ही।

हिंदी देश की राष्ट्रभाषा बने, राज्यभाषा बने, केवल संपर्क-भाषा बनकर न रह जाये, इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए काम में, लेखन और प्रकाशन में, जुट जाने के सिवाय हम हिंदी-भाषी बाक़ी सब-कुछ, करने योग्य और न करने योग्य, करने में लगे हुए हैं। दुनिया में आबादी के प्रति 10 लाख जनसंख्या के पीछे छपने वाली पुस्तकों की औसत संख्या 124 है, एशिया की औसत 50 है। इसकी तुलना में हिंदी में प्रति 10 लाख लोगों के लिए प्रतिवर्ष केवल 14 4 पुस्तकों की औसत (1975-76 के आँकड़ों के अनुसार) बैठती है। अन्य भारतीय भाषाओं का यह औसत इस प्रकार है : कन्नड़ 40.6, मराठी 34.5, मलयालम

26.3, तमिल 25.0, गुजराती 24.5, बंगाली 19.8।

यह नहीं है कि हिंदी को वांछित पद दिलवाने के लिए हम—लेखक और प्रकाशक—हिंदी प्रकाशक-क्षेत्र को विस्तृत करने की बात सोचें, साहित्य के अतिरिक्त विभिन्न विषयों पर अनगिनत पुस्तकें छापें, विविधता लायें, हिंदी में संदर्भ-साहित्य की कमी को पूरा करने में लगें, विज्ञान और तकनीक के क्षेत्र की आधुनिक पुस्तकों को तैयार करवायें या तब तक अनुवादों से काम चलाये जब तक कि उन्हें मौलिक रूप से हिंदी में लिखने वाले लेखक तैयार नहीं होते, विज्ञापन आदि पर अधिक व्यय करके पुस्तकों की बिक्री बढ़ायें, ऐसी पुस्तकें छापें, जो श्रेष्ठ होने के साथ-साथ लोकप्रिय भी सिद्ध हो सकें। हम अपने-अपने मिथ्या दंभ में ('स्नॉबरी' के अर्थ में) पड़े रहे तो अपना नुक़सान तो करेंगे ही, हिंदी का अहित तो निश्चय ही करेंगे। हिंदी-पत्रकारिता का पुस्तक-जगत के प्रति दृष्टिकोण भी अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण और शोचनीय है। हिंदी पत्र-पत्रिकाओं की तुलना में अँग्रेज़ी पत्र-पत्रिकाओं को देखें—अँग्रेज़ी का प्रायः प्रत्येक नया प्रकाशन उनके निकट 'ताज़ा ख़बर' के समान महत्वपूर्ण होता है। इसके विमोचन पर दिये गये नेताओं के प्रायः सारहीन भाषणों के अलावा पुस्तक के मुख्य कथ्य को प्रचारित किया जाता है; प्रत्येक सप्ताह प्रायः सभी महत्वपूर्ण पुस्तकों की समीक्षा छपती है, समीक्षा संभव न हो तो उनकी प्राप्ति-स्वीकृति तो छाप ही दी जाती है। इसके विपरीत-हिंदी की स्वनाम-धन्य पत्र-पत्रिकाएँ, पुस्तक के, या उसके प्रकाशक के विषय में—मूल्य के उल्लेख की तो बात सोची भी नहीं जा सकती—कुछ भी लिखना अनुचित समझते हैं। तर्क होता है कि ऐसा करना पुस्तकों का विज्ञापन करने के समान है, और वह प्रकाशकों को विज्ञापन करने पर ही क्यों न मजबूर करें?

हिंदी प्रकाशन के अनेक छोटे-मोटे सवाल शेष हैं, जैसे कि पुस्तकालयों द्वारा माँगें गये कमीशन के प्रश्न को लें। सच्चाई के साथ उसे दूसरे इन शब्दों में भी कहा जा सकता है—पुस्तकालयों को प्रकाशकों और पुस्तक-विक्रेताओं द्वारा दिये जाने वाले कमीशन का सवाल! गृह-मंत्रालय की हिंदी-समिति का आग्रह है कि अँग्रेज़ी और हिंदी की पुस्तकों पर एक-समान कमीशन लिया जाये—यह दर इन दो भाषाओं की पुस्तकों पर भिन्न नहीं होनी चाहिए। लेकिन हिंदी पुस्तक जगत् के अपने दुराग्रह के सामने सरकारी नीति कैसे कारगर सिद्ध हो सकती है? इधर दिल्ली विश्वविद्यालय और दिल्ली पब्लिक लाइब्रेरी ने हिंदी पुस्तकों पर अँग्रेज़ी पुस्तकों की अपेक्षा कहीं ज्यादा कमीशन की माँग प्रस्तुत की। अनेक संस्थाओं ने इस माँग को अनुचित मानते हुए उन्हें पुस्तकों की आपूर्ति रोक दी—लेकिन बाक़ी सब भी उसे अनुचित मानते, तभी तो माँग की सच्चाई व्यक्त होती। प्रकाशक संघ के कुछेक अग्रणियों ने ही—कुछ ने अपने नामों से, कुछ ने

दूसरे नामों से—कमीशन की बढ़ी हुई दरों पर पुस्तकें सप्लाई करना स्वीकार कर लिया और लंबे भविष्य में होने वाली व्यापक क्षति का ध्यान न कर आज के, इसी क्षण के, मुनाफ़े के धोखे को बटोरने में जुट गये।

ऐसे और इस प्रकार के प्रश्नों पर लंबे-लंबे वक्तव्य अनेक बार अनेक प्रकाशकों ने दिये हैं, लेकिन अपने ही मंतव्यों को चरितार्थ करने के साहस की कमी के कारण उन वक्तव्यों और मंतव्यों की निरर्थकता सिद्ध हो गयी। कई बार सोचा गया कि देश के दो-चार प्रमुख नगरों के पुस्तकों के वितरण के थोक-केंद्र सहकारी स्तर पर आयोजित किये जायें, लेकिन कुछ निहित और सीमित स्वार्थों ने ऐसा न होने दिया। कई बार सोचा गया कि वर्ष में एकाधिक बार सम्मिलित सूचियाँ छापी और वितरित की जायें, लेकिन हश्र वही हुआ। कई बार सोचा गया कि बुक-क्लब जैसी संस्था बनाकर सम्मिलित विज्ञापनों की व्यवस्था की जाये, लेकिन निर्णय लेने के तुरंत बाद इसे भुला दिया गया। इसलिए उन सब बातों को फिर से दोहराना विशेष माने नहीं रखता, जिन्हें हम ऐसी ही गोष्ठियों में अनेक बार कह-सुन चुके हैं।

जनवरी, 1978 में, तृतीय विश्व पुस्तक मेले के अवसर पर आयोजित विचार गोष्ठी "हिन्दी प्रकाशन के नये आयाम" में पढ़ा गया।

# हिंदी प्रकाशन की पृष्ठभूमि

सच पूछिये तो मेरी समझ में नहीं आ रहा है कि मैं हिंदी प्रकाशन के बारे में इस लेख को शुरू किस तरह करूँ? मुझसे यह लेख लिखने को प्रतिष्ठित लोगों के एक ऐसे समूह ने कहा है जो देश में पुस्तकों की संस्कृति को फैलाना चाहते हैं। इस समूह ने अपने सामने जो लक्ष्य रखा है वह बहुत महत्वाकांक्षापूर्ण और सराहनीय है, क्योंकि वह इस देश की उन प्राचीन परंपराओं के प्रतिकूल हैं, जिन्हें लिखित शब्द की अपेक्षा, जिसका संबंध आधुनिक युग की पुस्तक-संस्कृति से हैं, श्रुति (बोला तथा सुना गया शब्द) और स्मृति (कंठस्थ करके सीखना) की अपनी संस्कृति पर हमेशा गर्व रहा है और इसी संस्कृति को उन्होंने अपने गौरव का प्रतीक माना है।

अगर हम इस पहलू को नज़रअंदाज़ भी कर दें तब भी 1947 के बाद के हिंदी प्रकाशन के बारे में, उन तीन दशकों के बारे में जिनके दौरान मैं इस काम में लगा रहा हूँ, लिखना बहुत ही निराशापूर्ण काम है। यह बात बिना किसी संदेह के कही जा सकती है कि उस समय भी यह अपने पाँवों पर नहीं खड़ा हो सकता था और आज भी इसका अस्तित्व अनिश्चित तथा डावाँडोल है, और निरंतर ऐसा ही रहा है। आम तौर पर यह समझा जाता है कि हिंदी को चूँकि दो सरकारी भाषाओं में से एक मान लिया गया है और भारत के भू-विस्तार का 41 प्रतिशत भाग (जुलाई 1976) और भारत की आबादी का लगभग इतना ही बड़ा भाग (जुलाई 1976) चूँकि हिंदी-क्षेत्र में है, इसलिए उसे बहुत विस्तृत संभावित बाज़ार उपलब्ध है; हमारी अपनी प्रकाशक बिरादरी के बहुत-से लोग पूरी आवाज़ से इस तरह के नारे लगाने में शरीक़ हो गये हैं कि "सभी के लिए पुस्तकें", "कोटिसंख्यक लोगों के लिए पुस्तकें", क्योंकि उनके अनुसार लोगों की पुस्तकों की भूख स्पष्ट रूप से उभरकर सामने आ गयी है, जिसका प्रमाण लाखों की संख्या में हिंदी की पाकेट-बुकों के प्रकाशन तथा उनकी बिक्री में मिलता है। इस पृष्ठभूमि में हिंदी प्रकाशन की दयनीय दशा के बारे में विस्तार से कुछ लिखना कठिन है।

सचमुच जब मुझसे हिंदी प्रकाशन के बारे में कोई ऐसी बात लिखने को कहा जाता है, जिसमें मैं उन बातों का खंडन करने के अलावा और कुछ कर ही नहीं सकता जिन पर आम तौर पर सभी लोग विश्वास करते हैं, न केवल वे लोग जिनका प्रकाशन-जगत से कभी कोई निकट संबंध नहीं रहा, बल्कि अध्यापक, बुद्धिजीवी, सरकारी अफ़सर और स्वयं सरकार, जिनसे हमारा अकसर पाला पड़ता रहता है, और अनेक अवसरों पर हिंदी के प्रकाशक स्वयं भी इन बातों पर विश्वास करते हैं।

पहले मैं यह बता दूं कि इस क्षेत्र में तीस वर्ष के निजी अनुभव के अलावा मैंने जिन तथ्यों और आँकड़ों को अपने निष्कर्षों का आधार बनाया है उनका स्रोत क्या है? ज्यादातर मैंने पुस्तक-प्रकाशन के बारे में अलग-अलग राज्यों तथा अलग-अलग भाषाओं के अनुसार हर साल कलकत्ता की नेशनल लाइब्रेरी की ओर से प्रकाशित किये जानेवाले आँकड़ों को (मेरे पास 1957 से 1978 तक के सभी आँकड़े हैं) और हर साल राष्ट्रसंघ तथा यूनेस्को की ओर से प्रकाशित किये जानेवाले आँकड़ों को आधार बनाया है। मैंने पुस्तक-व्यापार के दो बहुत जाने-माने विशेषज्ञों के निष्कर्षों का भी सहारा लिया है, जिन्होंने यूनेस्को के लिए दो विशेष गवेषणामूलक अध्ययन प्रकाशित किये हैं: आर० ई० बार्कर (बुक्स फ़ॉर आल, 1958) और राबर्ट एस्कार्पिट (द बुक रेवल्यूशन, 1966)। शुरू-शुरू में जिस पुस्तक से मैंने प्रकाशन-व्यापार की गहराइयों को समझा, वह थी सर स्टैनली अनविन की युगांतरकारी पुस्तक द ट्रुथ एबाउट पब्लिशिंग।* इसके अलावा अँग्रेज़ी-भाषी जगत के विभिन्न प्रकाशक संघ आये-दिन बहुत-सी सामग्री छापते रहते हैं। इधर हाल ही में मुझे "रिपोर्ट्स ऍंड पेपर्स ऑन मास कम्युनिकेशन" नामक क्रम में 79 नंबर का बहुत ही अच्छा तथा सार्थक गवेषणामूलक अध्ययन द इकोनॉमिक्स ऑफ़ बुक पब्लिशिंग इन डेवलपिंग कंट्रीज (विकासशील देशों में पुस्तक-प्रकाशन की अर्थव्यवस्था) देखने का अवसर मिला। इसके लेखक हैं डेटस सी० स्मिथ (जूनियर), जो प्रकाशन के विषय के एक जाने-माने, प्रामाणिक विद्वान हैं। उन्होंने यह सर्वेक्षण 1975 में यूनेस्को के कहने पर किया था।

मेरी कठिनाई यह है कि जब किसी सूत्र के समर्थन में नेशनल लाइब्रेरी के तथ्यों और आँकड़ों का हवाला दिया जाता है या उन्हें इस्तेमाल किया जाता है, तो उससे भिन्न विचार रखनेवाले लोगों को मैं यह कहते हुए सुनता हूँ कि बहुत ही थोड़े प्रकाशक पुस्तकें भेजने के क़ानून के अनुसार अपनी प्रकाशित की हुई पुस्तकें इस पुस्तकालय को भेजते हैं, और इसी तरह की बहुत-सी और बातें। उन्हें मैं उत्तर यह देता हूँ—जिसे वे अकसर सुनने को तैयार नहीं होते—कि अगर

*'पुस्तक-व्यापार' के नाम से यह किताब हिंदी में भी प्रकाशित हो चुकी है।

ऐसा है तो यह स्थिति तो शुरू से ही है। ऐसा तो नहीं हो सकता कि प्रकाशकों ने नेशनल लाइब्रेरी को पुस्तकें न भेजने की बुरी आदत इधर हाल में अपना ली हो,' या बीच-बीच में या अलग-अलग समय पर उनकी यह आदत पड़ जाती हो। इस प्रकार, इस लाइब्रेरी की ओर से जारी किये गये तथ्य और आँकड़े बिलकुल सही भले ही न हों, पर वे ऐसी प्रवृत्तियों को जरूर इंगित करते हैं जिनके बारे में सही होने का भरोसा अवश्य किया जा सकता है। हालाँकि जहाँ तक हिंदी प्रकाशन के अधिकांश भाग तथा स्तर का सवाल है वे सही भी होंगे। या हम यह समझें कि प्रतिष्ठित प्रकाशकों में भी कुछ ऐसी काली भेड़ें हैं जो डाक का थोड़ा ख़र्च और अपनी पुस्तकों की एक-दो प्रतियाँ बचाने के लिए देश में लागू क़ानून की अवहेलना करने की कोशिश करती हैं?

मेरी दूसरी कठिनाई का संबंध ज्यादा नाजुक सच्चाई से है। हिंदी बोलने और लिखनेवालों की संख्या सही-सही है कितनी? बाक़ी हर भाषा के बारे में 1971 तक के सही-सही आँकड़े मिल जाते हैं। 1971 की जनगणना रिपोर्ट उपलब्ध नहीं है जिसमें इस बात की विस्तृत जानकारी दी जानेवाली थी कि भारतीय जन-साधारण में कितने लोग किस-किस भाषा अथवा बोली का प्रयोग करते हैं? यह जानकारी भारत सरकार के प्रकाशन विभाग से प्रकाशित होनेवाले वार्षिक संदर्भ-ग्रंथ में भी उपलब्ध नहीं है, जिसका 1977-78 तक का अंक प्रकाशित हो चुका है। भाषाओं के बारे में केवल इतनी जानकारी दी गयी है: "भारत में कई बोलियों तथा भाषाओं का प्रचलन है। इनमें से 15 भाषाएँ संविधान की आठवीं सूची में उल्लिखित हैं।" इन 15 भाषाओं के नाम देकर जानकारी समाप्त हो जाती है।

ऐसा अनुमान है कि 1971 की जनगणना के अनुसार हिंदी-भाषी लोगों की संख्या 16,25,77,612 होगी। लेकिन हिंदी के उत्साही ध्वजावाहकों ने हिंदी बोलनेवालों की संख्या का हिसाब लगाने के लिए एक नयी तरकीब निकाली है। छः राज्य और एक केंद्र-शासित प्रदेश (बिहार, हरयाणा, हिमाचल प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान, उत्तर प्रदेश और दिल्ली) वे मुख्य क्षेत्र हैं जहाँ हिंदी सरकारी भाषा है—इसलिए इन इलाक़ों की कुल आबादी, अर्थात 22,96,77,378 लोग हिंदी बोलते हैं (मध्य 1976)। अकसर इस संख्या को और भी खींचतानकर उसमें उन राज्यों की आबादी को भी जोड़ लिया जाता है जिनकी सरकार ने केंद्रीय सरकार को यह लिख भेजा है कि वे केंद्र के साथ हिंदी में पत्र-व्यवहार करेंगे और इस तरह हिंदी बोलनेवालों की संख्या बढ़ाकर लगभग 32 करोड़ तक पहुँचा दी जाती है। हिंदी के उन्मादियों के लिए भी ऐसा करना हद से आगे बढ़ जाना है; इससे उस भाषा को हानि पहुँचने के अलावा और कुछ नहीं हो सकता जिसे वे इस तरह खींच-तानकर जुटाये गये आधार पर दो संपर्क भाषाओं में से

एक होने के स्तर से ऊँचा उठाकर सरकारी भाषा बनाना चाहते हैं।

हालाँकि इस तर्क में कुछ दम है कि हिंदी-भाषी राज्यों की आबादी के अनुसार (मध्य 1976 में) हिंदी बोलनेवालों की संख्या 22,96,77,378 मान ली जाये; यह संख्या देश की कुल आबादी के 41.2 प्रतिशत के बराबर है। इसी मान्यता के अनुसार, इस लेख में आगे चलकर तथ्यों और आँकड़ों का जो विश्लेषण किया गया है वह इसी संख्या पर आधारित है।

आइये, 1959 की स्थिति पर विचार करें जिस साल, नेशनल लाइब्रेरी के आँकड़ों के अनुसार, हिंदी में प्रकाशित पुस्तकों की संख्या 3,751 थी। आज की तरह उस समय भी हिंदी का स्थान दूसरा था उस वर्ष प्रकाशित होने वाली कुल पुस्तकों की संख्या 24,856 थी। अन्य भाषाओं में प्रकाशनों की संख्या इस प्रकार थी :

| | |
|---|---|
| 1. असमिया | 110 |
| 2. बंगाली | 1,750 |
| 3. अँग्रेज़ी | 12,585 |
| 4. गुजराती | 1,401 |
| 5. कन्नड़ | 463 |
| 6. कश्मीरी | — |
| 7. मराठी | 1,124 |
| 8. मलयालम | 678 |
| 9. उड़िया | 216 |
| 10. पंजाबी | 211 |
| 11. उर्दू | 391 |
| 12. संस्कृत | 137 |
| 13. तमिल | 1,026 |
| 14. तेलुगु | 811 |
| अन्य | 172 |

लेकिन यह परिमाण या 3,751 पुस्तकें प्रकाशित करके दूसरा स्थान प्राप्त कर लेना क्या कोई ऐसी बात है जिसका इतना ढिंढोरा पीटा जाये? उस वर्ष (1959 में) हिंदी बोलनेवालों की संख्या लगभग 15 करोड़ बतायी जाती है, अर्थात् प्रति दस लाख हिंदी-भाषी लोगों पर 25 पुस्तकें प्रकाशित की जा रही थीं—एशिया के बहुत ही नीचे औसत की लगभग आधी।

इस प्रकार का लेख लिखते समय एक और कठिनाई सामने आती है। आप प्रकाशक किसे कहेंगे? कलकत्ता की नेशनल लाइब्रेरी ने यह फ़ैसला किया था कि जो

व्यक्ति, या जो प्रकाशन-संस्थाएँ, साल में कम-से-कम 20 पुस्तकें प्रकाशित करेंगी केवल उन्हीं का नाम लाइब्रेरी की ओर से प्रकाशित होनेवाले वार्षिक सूचीपत्र में शामिल किया जायेगा। इस परिभाषा के अनुसार, 1958 में हिंदी प्रकाशकों की कुल संख्या केवल 44 थी, हालाँकि हर साल उससे कम पुस्तकें प्रकाशित करनेवाले वहुत-से दूसरे प्रकाशक भी थे। नेशनल लाइब्रेरी के सूचीपत्र के अनुसार, 1958 और 1959 के दो वर्षों के दौरान सामान्य विषय की एक भी पुस्तक प्रकाशित करनेवाले प्रकाशकों की कुल संख्या 203 थी; ऐसी प्रकाशन-संस्थाओं की संख्या जिनका उद्देश्य लाभ कमाना नहीं होता, 24 थी; धार्मिक पुस्तकों के प्रकाशकों की संख्या 20 और शैक्षणिक पुस्तकों के प्रकाशकों की संख्या 20 थी। इन आँकड़ों में वे प्रकाशक भी शामिल हैं जिन्होंने क़ानून की आवश्यकताओं को पूरा करते हुए एक पुस्तक भी लाइब्रेरी को भेजी थी। इस सूचीपत्र में जिन प्रकाशकों का उल्लेख है, उनमें से वहुतों का तो अव अस्तित्व भी वाक़ी नहीं है, लेकिन उसके वाद से प्रकाशकों की विरादरी में इससे भी कहीं अधिक नये लोग, जिनकी ठीक-ठीक संख्या वताना कठिन है, शामिल भी हो गये हैं। सच्चाई यही है, जवकि आम तौर पर दावा यह किया जाता है कि हिंदी के क्षेत्र में हज़ारों प्रकाशक सक्रिय हैं। जैसा कि मैं वता चुका हूँ, 1958 के वाद से हिंदी प्रकाशकों की संख्या निश्चित रूप से वढ़ी है, लेकिन सूचीपत्र में वतायी गयी संख्या और अनिश्चित हज़ारों की संख्या में, जैसा कि दावा किया जाता है, ज़मीन-आसमान का अंतर है।

जिस देश में 15 वर्ष से अधिक आयु के निरक्षर लोगों की संख्या कुल आवादी के दो-तिहाई के वरावर हो, और हिंदी-भाषी राज्यों में इससे भी अधिक है, वहाँ स्थिति इससे वेहतर होने की आशा ही कैसे की जा सकती है? जापान में इस आयु-वर्ग में निरक्षरों की संख्या (1960 में) लगभग 3 प्रतिशत थी जवकि वहाँ 11,27,58,000 की आवादी के लिए (1976 में) 36,066 पुस्तकें प्रकाशित की गयी थीं। या अमरीका को ले लीजिये, जहाँ इसी आयु-वर्ग में निरक्षरों की संख्या (1969 में) 1 प्रतिशत थी, और 21,50,00,000 की आवादी के लिए (1976 में) 84,542 पुस्तकें प्रकाशित की गयी थीं।

पुस्तकों को "संस्कृति का मूल तत्त्व" कहा गया है। पुस्तकों के प्रति रुचि कुछ हद तक तो परंपरागत होती है, लेकिन उसके अलावा यह रुचि व्यापक शिक्षा और उसके साथ ही आम तौर पर लोगों की काफ़ी अच्छी क्रय-शक्ति के वातावरण में पैदा होती है और फूलती-फलती है। पिछले एक दशक के दौरान नीचे दिये गये चार देशों में कुल राष्ट्रीय उत्पादन का जितना प्रतिशत भाग सरकार की ओर से शिक्षा पर ख़र्च किया गया, वह इस प्रकार था :

| देश | 1965 | 1970 | 1974 | 1975 |
|---|---|---|---|---|
| भारत | 2.5 | 2.8 | 2.4 | 2.8 |
| जापान | 4.3 | 3.9 | 5.1 | 5.5 |
| सोवियत संघ | 7.3 | 6.8 | 7.6 | 7.6 |
| अमरीका | 18.0 | 19.4 | 18.1 (1975) | 17.7 (1976) |

स्कूल में कभी शिक्षा न पानेवालों की संख्या भारत में कुल आवादी की 72.2 प्रतिशत (1971 में), जापान में 0.98 प्रतिशत (1970 में) और अमरीका में 7.00 प्रतिशत थी। जब इतने बड़े पैमाने पर शिक्षा का अभाव हो और इसके साथ ही देश की आधी आवादी लगातार दरिद्रता के क्रूर भार के नीचे दवे रहकर अपना जीवन विताती हो और उसे पशुओं की तरह किसी तरह ज़िंदा रहने-भर को अपौष्टिक भोजन ही प्रतिदिन मिलता हो, तो ऐसी स्थिति में प्रकाशन का काम कभी नहीं पनप सकता।

1955 में एशिया की 41.1 प्रतिशत आबादी रहती थी, लेकिन दुनिया में कुल जितनी किताबें प्रकाशित होती थीं उनमें से केवल 20.1 प्रतिशत ही वहाँ प्रकाशित होती थीं। 1960 से 1976 तक के वर्षों के दौरान पूरी दुनिया की तुलना में एशिया की आवादी का और वहाँ के पुस्तक-प्रकाशन का प्रतिशत अनुपात इस प्रकार रहा :

| वर्ष | आबादी | पुस्तक-प्रकाशन |
|---|---|---|
| 1960 | 41.9 | 15.4 |
| 1965 | 42.2 | 14.3 |
| 1970 | 43.2 | 14.4 |
| 1975 | 44.2 | 15.5 |
| 1976 | 45.2 | 16.9 |

इन्हीं वर्षों के दौरान पूरी दुनिया की तुलना में एक ओर विकसित देशों की और दूसरी ओर विकासशील देशों की आबादी तथा पुस्तक-प्रकाशन के प्रतिशत अनुपात के आँकड़ों से जो स्थिति उभरकर सामने आती है वह इस प्रकार है :

| वर्ष | विकसित देश | | विकासशील देश | |
|---|---|---|---|---|
| | आबादी | पुस्तक-प्रकाशन | आबादी | पुस्तक-प्रकाशन |
| 1955 | 44.0 | 83.6 | 56.0 | 16.4 |
| 1960 | 41.6 | 85.8 | 58.4 | 14.2 |
| 1965 | 40.5 | 85.9 | 59.5 | 14.1 |
| 1970 | 38.5 | 86.6 | 61.5 | 13.4 |
| 1975 | 36.9 | 84.5 | 63.1 | 15.5 |
| 1976 | 35.6 | 83.1 | 64.4 | 16.9 |

इन्हीं वर्षों में (1955 के आँकड़े इस समय नहीं मिल सके हैं) भारत में लगभग 60 करोड़ की आवादी (1977-78) के लिए प्रकाशित कुल पुस्तकों की संख्या 10741, 11526, 13740, 16096 (1974-75), 17383 (1975-76) और 19659 (1977-78) रही है। ये आँकड़े कितने कम और निराशाजनक हैं, इसका सही पता तव चलता है जब हम यह देखते हैं कि सारी दुनिया में जवकि प्रति दस लाख की आवादी के लिए 1955 में 131 पुस्तकें, 1960 में 144 पुस्तकें, 1965 में 168 पुस्तकें, 1970 में 187 पुस्तकें, 1975 में 185 पुस्तकें और 1976 में 186 पुस्तकें प्रकाशित की गयीं। उसी अवधि में इसकी तुलना में एशिया की इतनी विशाल आवादी के लिए प्रति दस लोगों पर क्रमशः 64, 53, 57, 62, 65 और 70 पुस्तकें प्रकाशित की गयीं। भारत की विभिन्न भाषाओं में, जिनके वोलनेवालों की संख्या यूरोप के अधिकांश देशों की पूरी-की-पूरी आवादी के वरावर है, प्रकाशित पुस्तकों की संख्या इस प्रकार थी :

| भाषा | 1973 | 1974 | 1976 | 1975-76* |
|---|---|---|---|---|
| हिंदी | 1814 | 1368 | 2235 | 3210 |
| मराठी | 1085 | 682 | 1290 | 1599 |
| वंगाली | 1140 | 864 | 1146 | 979 |
| गुजराती | 630 | 560 | 760 | 699 |
| तमिल | 1089 | 826 | 697 | 1044 |
| उड़िया | 113 | 113 | 73 | 170 |

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| मलयालम | 478 | 480 | 450 | 640 |
| तेलुगु | 327 | 183 | 355 | |
| असमिया | 259 | 169 | 154 | 250 |
| पंजाबी | 138 | 213 | 241 | |
| उर्दू | 103 | 195 | 269 | 355 |
| कन्नड़ | 616 | 394 | 1261 | 974 |
| संस्कृत | 54 | 40 | 93 | |
| अँग्रेज़ी | 6183 | 5501 | 6733 | 11020 |
| अन्य | | | 45 | |
| कुल योग | 14064 | 11647 | 15802 | 22096 |

*ये आँकड़े 'समाचार' नामक संवाद-एजेंसी की ओर से प्रसारित किये गये थे और अँग्रेज़ी दैनिक 'स्टेट्समैन' के नयी दिल्ली संस्करण के 17 अक्तूबर, 1976 के अंक में प्रकाशित हुए थे।

नेशनल लाइब्रेरी ने 1976 में प्रकाशित पुस्तकों की ऊपर बतायी गयी 15802 की संख्या उस वर्ष की जनवरी से दिसम्बर तक की बतायी थी, जबकि 'समाचार' ने 22096 की संख्या 1975-76 के वित्तीय वर्ष के लिए बतायी थी। इस बादवाली संख्या में पुस्तकें, पुस्तिकाएँ और क्षणिक उपयोग के सभी प्रकार के प्रकाशन शामिल हैं। यूनेस्को की परिभाषा के अनुसार पुस्तक में आवरण के अतिरिक्त 48 से कम-से-कम एक पृष्ठ अधिक होना चाहिए, जबकि पुस्तिकाओं और क्षणिक उपयोग के प्रकाशनों पर इस प्रकार की कोई पाबंदी लागू नहीं होती। यूनेस्को के सांख्यिकीय वर्षबोध में केवल उस समय के बाद से प्रकाशित पुस्तकों की संख्या दी गयी है जब 48 से कम-से-कम एक पृष्ठ अधिकवाली परिभाषा अपनायी गयी थी।

नीचे इस बात का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है कि 1976 के मध्य में भारत के मुख्य राज्यों तथा दिल्ली में बोली जानेवाली भाषाओं के अनुसार आबादी कितनी थी और वहाँ प्रकाशित पुस्तकों की संख्या कितनी थी :

| राज्य | भाषा | आबादी (करोड़) | पुस्तकों की संख्या |
|---|---|---|---|
| बिहार | हिंदी | 6.18 | |
| हरयाणा | " | 1.12 | |
| हिमाचल प्रदेश | " | 0.37 | |
| मध्य प्रदेश | " | 4.72 | |
| राजस्थान | " | 2.90 | |
| उत्तर प्रदेश | " | 9.62 | |
| दिल्ली | " | 0.51 | |
| | | 25.41 | 3210 |
| आंध्र प्रदेश | तेलुगु | 4.79 | 327 |
| असम | असमिया | 1.70 | 250 |
| गुजरात | गुजराती | 3.03 | 607 |
| जम्मू-कश्मीर | कश्मीरी | 0.51 | — |
| कर्नाटक | कन्नड़ | 3.24 | 974 |
| केरल | मलयालम | 2.40 | 640 |
| महाराष्ट्र | मराठी | 5.63 | 1599 |
| उड़ीसा | उड़िया | 2.44 | 120 |
| पंजाब | पंजाबी | 1.50 | 346 |
| तमिलनाडु | तमिल | 4.54 | 1044 |
| पश्चिम बंगाल | बंगाली | 4.98 | 979 |
| | सिंधी तथा अन्य | | 419 |
| | संस्कृत | | 146 |
| | उर्दू | | 355 |
| | अँग्रेजी | | 11020 |
| | | | 22096 |

ऊपर दिये गये विश्लेषण से कुछ प्रमुख भाषाओं में पुस्तकों के प्रकाशन के संबंध में एक रोचक परंतु साथ ही चिंताजनक स्थिति का पता चलता है। प्रति दस लाख की आबादी पर कई दूसरी भाषाओं की तुलना में हिंदी में कम पुस्तकें प्रकाशित होती हैं। नीचे कुछ भाषाओं के बारे में यह संख्या घटते हुए क्रम से दी गयी है :

| भाषा | प्रति दस लाख की आबादी पर प्रकाशित पुस्तकों की संख्या |
|---|---|
| कन्नड़ | 30.06 |
| मराठी | 28.40 |
| मलयालम | 26.67 |
| पंजाबी | 23.07 |
| तमिल | 23.00 |
| बंगाली | 19.66 |
| हिंदी | 12.62 |
| तेलुगु | 6.82 |

यह बात ध्यान देने योग्य है कि प्रति दस लाख की आबादी पर हिंदी में जो 12.62 पुस्तकें प्रकाशित की गयीं उनमें से 90 प्रतिशत शैक्षिक पुस्तकें थीं, अर्थात् सामान्य विषयों की केवल 1.22 पुस्तकें पाठकों के लिए उपलब्ध की गयीं।

नेशनल लाइब्रेरी ने 1977-78 को जो आँकड़े भेजे हैं उनके अनुसार इस वर्ष के दौरान भारत में कुल 19,659 पुस्तकें प्रकाशित हुईं, अर्थात् लगभग उतनी ही जितनी इससे पहलेवाले साल में उसने की थीं। अँग्रेज़ी में प्रकाशित पुस्तकों की संख्या बढ़कर 9,922 तक, अर्थात् कुल पुस्तकों के 50.47 प्रतिशत तक, पहुँच गयी। हिंदी में 2,382, अर्थात् 12.12 प्रतिशत, पुस्तकें प्रकाशित हुईं। नयी दिल्ली से प्रकाशित संस्करण में स्टेट्समैन ने 24 जुलाई 1978 को "कम और मँहगी" के शीर्षक से अपने संपादकीय लेख में लिखा : "...हर प्रकार के सहारों और खुली तथा छिपी आर्थिक सहायता के बावजूद हिंदी को अभी तक दूसरा स्थान प्राप्त हो सका है और सो भी बहुत पीछे...इससे भी बुरी बात यह है कि गणित और शुद्ध विज्ञान के क्षेत्र में प्रकाशित कुल 1,313 पुस्तकों में से 1,026 अँग्रेज़ी में थी और इस प्रकार इस क्षेत्र में वस्तुतः अँग्रेज़ी का एकाधिकार रहा।"

गणित तथा शुद्ध विज्ञान के क्षेत्र में प्रकाशित 1,313 पुस्तकों में से, जो मुख्यतः शैक्षिक क्षेत्र की पुस्तकें थीं, 1,026 (78.18 प्रतिशत) पुस्तकों का अँग्रेज़ी में प्रकाशित होना इस बात का प्रमाण है कि अन्य सभी भारतीय भाषाओं की तुलना में अब भी अँग्रेज़ी का पलड़ा कितना भारी है।

जैसा कि मैंने नयी दिल्ली के भारतीय जन-संचार संस्थान के तत्त्वावधान में आई० ए० एस० के प्रशिक्षणार्थियों के सामने पढ़े गये अपने एक लेख में कहा था,

बौद्धिक तथा सांस्कृतिक मामलों में देश की रुचि अथवा उसके अभाव का अंदाज़ा उसकी प्रकाशित पुस्तकों की कुल संख्या को उसकी आवादी से भाग देकर लगाया जा सकता है। अगर विभाजनफल बहुत कम आये तो इसका अर्थ यह है कि बहुत बड़ी संख्या में लोग बहुत ही थोड़ी किताबों से संतोष कर लेते हैं, जिससे सामान्य गतिरोध की प्रवृत्ति का संकेत मिलता है। यदि विभाजनफल अधिक हो तो उससे यह पता चलता है कि उस देश के लोगों की अपनी सांस्कृतिक तथा बौद्धिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए बहुत अधिक पुस्तकों की ज़रूरत पड़ती है। आर० ई० बार्कर ने अपनी पुस्तक बुक्स फ़ॉर आल (सभी के लिए पुस्तकें) में कई देशों के बारे में यह हिसाब लगाकर बताया है कि 1952 में वहाँ पुस्तकों की खपत का स्तर क्या था और राबर्ट एस्कार्पिट ने अपने इसी नाम के अध्ययन में 1962 के लिए यही हिसाब लगाकर बताया है। जैसा कि आप नीचे दिये गये आँकड़ों से देखेंगे, भारत का स्तर (विभाजनफल) इस मामले में न केवल सबसे नीचा है बल्कि वह गिरता ही गया है, जबकि अन्य सभी देशों में वह ऊपर उठता रहा है :

| देश | 1952 | 1962 |
|---|---|---|
| इस्राइल | 750 | 1150 |
| स्विट्ज़रलैंड | 645 | 995 |
| चेकोस्लोवाकिया | 455 | 628 |
| ब्रिटेन | 375 | 469 |
| सोवियत संघ | 188 | 195 |
| अमरीका | 74 | 117 |
| भारत | 47 | 25 |

अगर आज केवल हिन्दी के बारे में इस विभाजनफल का हिसाब लगाया जाये तो वह 1962 में भारत की सभी भाषाओं के प्रकाशनों के 1962 के विभाजनफल के आधे के बराबर, अर्थात 12.62 निकलता है।

अन्य पुस्तकों के अलावा उस प्रकार की पुस्तकों के लिए जिन्हें ज्ञान का भंडार कहा जाता है सबसे बड़ा सहारा पुस्तकालय ही प्रदान करते हैं। भारत में पुस्तकालयों को ही इस प्रकार का प्रायः कोई समर्थन नहीं मिलता, विशेष रूप से हिन्दी-भाषी क्षेत्रों में। छठी योजना के लिए आधार-सामग्री तैयार करते समय 1965 में योजना आयोग के पुस्तकालयों से संबंधित कार्यदल ने भारत में सार्व-

जनिक पुस्तकालय सेवा का जो सर्वेक्षण किया था उसमें डॉ० डी०आर० कालिया इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि सार्वजनिक पुस्तकालयों पर प्रति व्यक्ति केवल 3 पैसे खर्च किये जाते थे। उड़ीसा और उत्तर प्रदेश सार्वजनिक पुस्तकालयों पर सबसे कम पैसा ख़र्च करते हैं, प्रति-व्यक्ति केवल 1/3 पैसा, जबकि सबसे अधिक पैसा पश्चिम वंगाल ख़र्च करता है, प्रति-व्यक्ति 9.3 पैसे। आंध्र प्रदेश और मद्रास में, जहाँ पुस्तकालय-संबंधी क़ानून बने हुए हैं, प्रति-व्यक्ति क्रमशः 4 पैसे और 6.9 पैसे ख़र्च किये जाते हैं। उनके अनुसार, इधर हाल में भारत में पुस्तकालयों पर होने वाले सार्वजनिक ख़र्च में वृद्धि हुई है, लेकिन यह उन उन्नत देशों में सार्वजनिक पुस्तकालयों पर ख़र्च की जाने वाली रक़म से बेहद कम है जो किसी भी देश के जीवन में पुस्तकालय आंदोलन के शैक्षिक, सांस्कृतिक, सामाजिक तथा आर्थिक प्रभाव को महसूस करके उसमें वड़ी लगन से हिस्सा लेते हैं। दावा यह किया जाता है कि आंध्र प्रदेश, कर्नाटक और तमिलनाडु में इस मद में होने वाला प्रति-व्यक्ति ख़र्चा काफ़ी वढ़ाया गया है, हालाँकि वह अव भी कुछ पैसों तक ही पहुँच पाया है। लेकिन जव हम इस वात से तुलना करते हैं कि उन्नत देश सार्वजनिक निधि में से पुस्तकालयों की स्थापना करने, उनकी देखभाल करने और उन्हें सहारा देने पर कितना पैसा ख़र्च करते हैं और इस प्रकार न केवल प्रकाशन-उद्योग को सहारा देते हैं, वल्कि उसके फलस्वरूप वौद्धिक गतिविधियों में बढ़ावा देते हैं, तव हमें यह पता चलता है कि भारत के विभिन्न राज्यों में ख़र्च की जाने वाली कुछ पैसों की रक़म वहुत ही दयनीय हद तक तुच्छ मालूम होती है। भारत की तुलना में उसी वर्ष (1965 में) अमरीका में इस काम के लिए प्रति-व्यक्ति लगभग 400 गुनी और इंग्लैंड में 200 गुनी रक़म ख़र्च की गयी।

यह जान लेना वहुत उपयोगी होगा कि भारत के 15 मुख्य राज्यों में और दिल्ली तथा हिमाचल प्रदेश के केन्द्र-शासित प्रदेशों में इस काम पर प्रति-व्यक्ति कितने पैसे ख़र्च किये गये :

| राज्य | प्रति व्यक्ति ख़र्च पैसों में |
|---|---|
| आंध्र प्रदेश | 04.0 |
| असम | 03.2 |
| विहार | 01.2 |
| दिल्ली (दिल्ली प्रशासन और दिल्ली पब्लिक लाइब्रेरी | 31.0 |
| गुजरात | 04.5 |

| | |
|---|---|
| हिमाचल प्रदेश | 14.0 |
| जम्मू-कश्मीर | 02.6 |
| केरल | 03.2 |
| मध्य प्रदेश | 03.2 |
| मद्रास | 06.9 |
| महाराष्ट्र | 01.6 |
| मैसूर | 01.9 |
| उड़ीसा | 00.3 |
| पंजाब | 01.4 |
| राजस्थान | 02.3 |
| उत्तर प्रदेश | 00.3 |
| पश्चिम बंगाल | 09.3 |

आज हर जगह नये विचारों और नये बौद्धिक प्रयासों की अभिव्यक्ति पुस्तकों के माध्यम से होती है, और उन्नत देशों की सरकारें इसे नितान्त आवश्यक समझती हैं और इसे अपनी ज़िम्मेदारी तथा अपना कर्तव्य समझती हैं कि वे पुस्तकें खरीदने के लिए काफ़ी बड़ी रक़म की मंज़ूरी देकर पुस्तकालय आंदोलनों को भरपूर समर्थन प्रदान करती हैं। भारत में केवल एक नेशनल लाइब्रेरी है जिसमें 15,10,000 पुस्तकें हैं, जबकि जापान में (जिसकी आबादी भारत के लगभग छठे भाग के बराबर है) नेशनल लाइब्रेरी में 29,58,000 पुस्तकें हैं और अमरीका में (जिसकी आबादी भारत की आबादी की लगभग एक-तिहाई है) चार नेशनल लाइब्रेरियाँ हैं, जिनमें 1,95,67,000 पुस्तकें हैं। यह बात पूरे विश्वास के साथ कही जा सकती है कि भारत में अभी तक पुस्तकालय आंदोलन की जड़ें नहीं जमी हैं, और न ही उसे कोई ऐसा सरकारी अथवा सार्वजनिक समर्थन प्राप्त हुआ है जिसका उल्लेख किया जा सके। इसका परिणाम स्पष्ट है—शायद ही कोई प्रकाशक ऐसा होगा जो ऐसी पुस्तकों में अपना पैसा लगाने को तैयार हो जो मुख्यतः अपने नयी परम्परा की स्थापना करने वाले अग्रगामी स्वरूप के कारण, या अपनी बौद्धिक विषय-वस्तु के कारण या शुद्धतः शोधमूलक स्वरूप के कारण, केवल पुस्तकालयों के लिए ही प्रकाशित की जा सकती हैं।

जैसा कि यूनेस्को की ओर से बुक प्रमोशन न्यूज़ के न्यूज़-लेटर नं० 3 में कहा गया है, बड़े अफ़सोस की बात है कि "जिस दुनिया में हर मिनट एक नयी किताब प्रकाशित होती है और उनकी प्रतियों की कुल संख्या हर साल 8 अरब से भी

अधिक तक पहुँच जाती है, उसी में कुछ क्षेत्र ऐसे भी हैं जिनमें छपी हुई सामग्री का अभाव अकाल की सीमा तक पहुँच जाता है। दुनिया में प्रकाशित होने वाली हर 5 किताबों में से 4 इने-गिने यूरोपीय देशों में और अमरीका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैंड, जापान और सोवियत संघ में प्रकाशित होती हैं। दो-तिहाई दुनिया के देशों में पुस्तकों का अपना उत्पादन और दूसरे देशों से मँगायी गयी पुस्तकें उनकी आधी आवश्यकताओं को भी मुश्किल से पूरा कर पाती हैं।" हिन्दी में और दूसरी भारतीय भाषाओं में पुस्तकों का प्रकाशन शैक्षिक तथा सांस्कृतिक माँग को पूरा करने के लिए या उसे पैदा करने के लिए बेहद अपर्याप्त है।

"पुस्तकों का महत्व भी उतना ही हो जाना चाहिए जितना कि रोटी का है"—अल्जीरिया के भूतपूर्व राष्ट्रपति बूमेदीन का यह कथन और इसी प्रकार के दूसरे कथन उस समय तक खोखले नारे ही रहेंगे, जब तक कि हमारे देश में और एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमरीका के अन्य देशों में मौजूद परिस्थिति और रवैये में परिवर्तन नहीं आयेगा।

जैसा कि प्रोफ़ेसर वी० वी० जॉन ने 1966 में प्रकाशन के बारे में एक गोष्ठी में, जिसमें मुख्यतः प्रकाशकों और पुस्तक-विक्रेताओं ने भाग लिया था, भाषण देते हुए कहा था: "मैं शुरू में ही इस बात को स्वीकार कर लूँ कि मैं जानता हूँ कि आप वहाँ बैठे-बैठे एक अनाड़ी आदमी के मुँह से यह सुनकर कि आप अपना व्यापार किस तरह चलायें कैसा अनुभव करते होंगे।...आपका व्यापार है ही इस ढँग का कि अनाड़ी आदमी को भी अपने-आपको उसका विशेषज्ञ समझने का साहस होता है।" उन्होंने विनम्रतावश ही बात को इस ढँग से कहा था, क्योंकि जीवन-भर उनका पुस्तकों की दुनिया से संबंध रहा है और उन्होंने जिस तरह सहानुभूति के साथ हमेशा उसकी समस्याओं को समझने की कोशिश की है वैसा उनके जैसे प्रतिष्ठित विद्वान तथा बुद्धिजीवी कम ही करते हैं।

प्रकाशन के बारे में लोगों के आम रवैये को सर स्टैनली अनविन ने अपनी पुस्तक ट्रुथ एबाउट पब्लिशिंग (पहला संस्करण, 1926) की भूमिका में बड़े अच्छे ढँग से इन शब्दों में व्यक्त किया है: "प्रकाशकों को सभी गालियाँ देते हैं। पूरे समाज में शायद ही कोई दूसरा वर्ग ऐसा होगा जिसके सदस्यों की, उनकी संख्या को देखते हुए इतनी अधिक आलोचना की जाती हो, या जिनकी हर कमज़ोरी का इतना प्रचार किया जाता हो। गल्ले की सबसे काली भेड़ों के दोष भी सबसे सफ़ेद भेड़ों के मत्थे मढ़ दिये जाते हैं। प्रकाशक को अपनी सफ़ाई में जो कुछ कहना है वह कभी सुना ही नहीं गया...।" अपनी इसी पुस्तक के सातवें संस्करण में (1960) सर स्टैनली ने लेखकों को विशेष रूप से संबोधित करते हुए कहा था: "प्रकाशक अनिवार्य रूप से न तो परोपकारी होते हैं और न ही लंपट। इसी प्रकार, आमतौर पर वे न तो ऐश्वर्य में डूबे हुए धनपति होते हैं और न ही कंगाल

भिखारी। एक व्यावहारिक प्रस्थापना के रूप में आप उनके वारे में यह मानकर चल सकते हैं कि वे उन साधारण लोगों जैसे ही होते हैं जो एक असाधारण रूप से कठिन व्यवसाय में अपनी जीविका कमाने की कोशिश करते हैं। (प्रकाशक वन जाना तो आसान है, पर प्रकाशक वने रहना वहुत कठिन काम है; किसी भी दूसरे व्यापार या व्यवसाय की अपेक्षा इस व्यवसाय में शैशवकाल में मृत्यु की दर बहुत ऊँची है)।" उनके इस मत में ब्रिटेन की स्थिति से संबंधित जो वातें प्रतिबिम्बित होती हैं वे भारतीय स्थिति के बारे में उससे कई गुना अधिक सच हैं।

मुझे कहना पड़ेगा कि लगातार गालियों की इस बौछार के लिए मुख्य रूप से प्रकाशक स्वयं ही दोषी हैं। उनकी ओर से अपनी बिरादरी के दूसरे सदस्यों में अपने कठिन व्यापार की कठिनाइयों तथा जटिलताओं की अधिक समझ-बूझ पैदा करने की प्रायः कोई भी कोशिश नहीं की गयी है। वताया जाता है कि एक वार जर्मन विद्वान लिख़टेनवर्ग ने कहा था: "पुस्तकों से अधिक विचित्र कोई चीज़ ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलेगी। उनकी छपाई ऐसे लोग करते हैं जो उन्हें समझते नहीं; उनकी जिल्द ऐसे लोग वाँधते हैं जो उन्हें समझते नहीं; उन्हें वेचने, खरीदने, पढ़ने तथा उनकी समीक्षा करने का काम ऐसे लोग करते हैं जो उन्हें समझते नहीं; और अन्तिम बात यह कि ऐसे लोग भी उन्हें लिखते हैं जो उन्हें समझते नहीं।" (प्रोफ़ेसर वी० वी० जॉन द्वारा अपने निबंध **किताबों की दुकानें और समाज**, 1966, में उद्धृत)।

यूनेस्को की ओर से पुस्तकों के महत्व के वारे में विश्वव्यापी चेतना को वढ़ावा देने की दिशा में वहुत प्रवल प्रयास किया गया है,विशेष रूप से अंतर्राष्ट्रीय पुस्तक वर्ष (1972) के दौरान लेखकों, प्रकाशकों,लाइब्रेरियनों, पुस्तक-विक्रेताओं और प्रलेखकारों (दस्तावेज़ तैयार करने वालों) के अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों ने उस समय उन सिद्धान्तों का एक घोषणापत्र जारी किया जिनके अनुसार राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय दोनों ही स्तरों पर पुस्तकों को वढ़ावा देने का काम निर्देशित होना चाहिए। इन सिद्धान्तों में घोषणा की गयी थी कि (1) हर व्यक्ति को पढ़ने का अधिकार है; (2) किताबें शिक्षा के लिए नितान्त आवश्यक हैं; (3) समाज पर विशेष रूप से इस बात का दायित्व है कि वह ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करे जिनमें लेखक अपनी सृजनात्मक भूमिकाएँ निभा सकें; (4) राष्ट्रीय विकास के लिए ठोस आधार पर स्थापित प्रकाशन-उद्योग आवश्यक है; (5) प्रकाशन के विकास के लिए पुस्तकों के उत्पादन की सुविधाएँ आवश्यक हैं; (6) पुस्तक-विक्रेता ःकाशकों तथा पाठक-वर्ग के वीच की कड़ी के रूप में एक बुनियादी सेवा करते हैं; (7) पुस्तकालय सूचना और जानकारी के स्थानांतरण के लिए, ज्ञान तथा सौंदर्य की अनुभूति के लिए राष्ट्र के साधन होते हैं; (8) प्रलेख तैयार करने का काम आवश्यक आधार सामग्री को सुरक्षित रखकर तथा उसे उपलब्ध करके

पुस्तकों के लिए उपयोगी सिद्ध होता है; (9) विभिन्न देशों के बीच पुस्तकों का उन्मुक्त प्रवाह किसी भी राष्ट्र को प्राप्त होने वाली चीज़ों का एक आवश्यक पूरक है और इससे अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना को बढ़ावा मिलता है; और (10) पुस्तकें अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना तथा शांतिपूर्ण सहयोग का साधन होती हैं।

मुझे संदेह है कि हमारे समाज पर शासन करने वालों को और सभी स्तरों पर हमारी सरकार को चलाने वालों को ऊपर घोषित किये गये सिद्धान्तों के वास्तविक तात्पर्य का पूरी गंभीरता के साथ आभास है भी या नहीं।

जानकारी न रखने वाला और हर बात के प्रति अविश्वास की भावना रखने वाला समाज का कोई भी सदस्य प्रकाशक से पहला सवाल यह पूछता है : क्या यह सच है कि पुस्तकों का मूल्य उनके उत्पादन की बुनियादी लागत का चार-पाँच गुना निर्धारित किया जाता है ? इस लेख के लेखक ने 1962 में यूनेस्को की ओर से हिंदी प्रकाशन के बारे में जो सर्वेक्षण किया था उसके दौरान यह पता चला कि अधिक ज़िम्मेदार प्रकाशक अपनी पुस्तकों का मूल्य लागत के साढ़े तीन गुने से लेकर चार गुने तक ही बाँधते थे। इस सिलसिले में यह बात ध्यान देने योग्य है कि हिंदी के 100 से अधिक प्रतिष्ठित प्रकाशकों को एक प्रश्नावली भेजी गयी थी और उनसे हिंदी प्रकाशन के विभिन्न पहलुओं से संबंधित 32 प्रश्नों के उत्तर देने को कहा गया था। 68 प्रकाशकों ने अपने उत्तर भेजे थे, जो बहुत उत्साहवर्द्धक बात थी। जिन लोगों ने उत्तर भेजे थे उनमें से 41.2 प्रतिशत की कुल वार्षिक बिक्री 25,000 रु० से कम; 30.6 प्रतिशत की 25,000 रु० से 50,000 रु० तक; 14.5 प्रतिशत की 50,000 रु० से 1,00,000 रु० तक और 13.3 प्रतिशत की 2,00,000 रु० से अधिक थी। अंतिम कोटि के प्रकाशकों में से अधिकांश दिल्ली के, और एक-एक आगरा, इलाहाबाद, वाराणसी तथा गोरखपुर के थे। गोरखपुर के प्रकाशक की बिक्री उस साल 27 लाख रु० की हुई थी, लेकिन उसके सारे प्रकाशन या तो धार्मिक ग्रंथ थे, या बहुत कम मूल्य पर बिकने वाला साहित्य। वाराणसी का प्रकाशक, जिसकी बिक्री लगभग 8 लाख रु० की थी, मुख्यतः शैक्षिक प्रकाशक था। किसी भी उपन्यास के पहले संस्करण की एक हज़ार से तीन हज़ार तक प्रतियाँ, नाटक या कहानी-संग्रह की लगभग दो हज़ार प्रतियाँ और कविता की हद-से-हद एक हज़ार प्रतियाँ प्रकाशित की जाती थीं—यही स्थिति आज तक बनी हुई है। शायद ही कोई प्रकाशक ऐसा था जिसके यहाँ पांडुलिपियों के संपादन की व्यवस्था हो। अधिकांश प्रकाशक ऐसे थे जो लेखक से पांडुलिपि मिलते ही उसे छपने के लिए भेज देते थे। अधिकांश लेखक अपनी पांडुलिपि स्वयं लेकर प्रकाशक के यहाँ आते थे। दोनों के बीच संपर्क स्थापित करने का काम करने वाली कोई साहित्यिक एजेंसी न उस समय थी, न अब है। 78.5 प्रतिशत

हिंदी प्रकाशकों ने कहा कि अगर कोई स्वतंत्र साहित्यिक एजेंसी की स्थापना हो तो वे छापने के लिए पुस्तकें चुनने में उसकी सहायता तथा मार्ग-दर्शन लेने को तैयार हैं, जबकि 12.2 प्रतिशत ने इससे इंकार किया और 9.3 प्रतिशत को उसकी उपयोगिता के बारे में संदेह था।

एक-तिहाई से अधिक प्रकाशकों ने इस बात को स्वीकार किया कि उन्हें कॉपीराइट नियमों के बारे में इसके अलावा ज्यादा कुछ नहीं मालूम है कि लेखक की अनुमति के बिना कोई पांडुलिपि प्रकाशित नहीं की जानी चाहिए। कॉपीराइट क़ानून के बारे में उनके अन्य विचारों से सरासर अराजकता का संकेत मिलता था। अधिकांश प्रकाशक अपने लेखकों के साथ कोई लिखित क़रार नहीं करते थे और केवल 20 प्रतिशत प्रकाशक ऐसे थे जो अपने लेखकों के साथ किया गया किसी भी प्रकार का ऐसा क़रारनामा पेश कर सके जिसमें उपयुक्त शर्तें दी गयी हों। इन क़रारनामों में भी बहुत-से ऐसे थे जिनसे पता चलता था कि उन्हें कॉपीराइट क़ानून की कितनी कम जानकारी है, और कुछ क़रारनामों में तो ऐसी शर्तें शामिल थीं जो लेखक के हितों के सर्वथा प्रतिकूल थीं। पांडुलिपियाँ 'ख़रीदने' का भी प्रचलन था। लेखकों और प्रकाशकों को अपने-अपने अधिकारों की जानकारी न होने की वजह से दोनों के बीच काफ़ी अविश्वास था। 20 प्रतिशत प्रकाशक ऐसे थे जो ऐसी पुस्तकें प्रकाशित नहीं करते थे जिन पर उन्हें रायल्टी देनी पड़े, क्योंकि वे प्रकाशन का अधिकार प्राप्त करने के लिए एकमुश्त रक़म अदा कर देना पसंद करते थे; जबकि 42.2 प्रतिशत प्रकाशक ऐसे थे जो कभी किसी पुस्तक का कापीराइट नहीं ख़रीदते थे और पुस्तकों की बिक्री पर रायल्टी देना ही पसंद करते थे। बाक़ी प्रकाशक अलग-अलग प्रकार के पाठकों के मतलब की अलग-अलग प्रकार की पांडुलिपियों के सिलसिले में जो भी तरीक़ा उचित समझते थे अपनाते थे। सर्वेक्षण से पता चला कि उस समय लेखकों को छः से लेकर तीस प्रतिशत तक रायल्टी दी जाती थी और हिसाब हर तीन महीने बाद, हर छः महीने बाद, या साल में एक बार किया जाता था—ज्यादातर साल में एक बार। मौलिक रचनाओं पर आमतौर पर 15 से 20 प्रतिशत तक रायल्टी दी जाती थी।

देखा यह गया कि रायल्टी का यह प्रतिशत अनुपात पश्चिम के उन्नत देशों के लेखकों को मिलने वाली रायल्टी से अधिक था; और रायल्टी की इस ऊँची दर के कारण पुस्तकों की बिक्री सीमित हो जाती थी और प्रकाशक, समाज को वे आवश्यक शैक्षिक तथा सांस्कृतिक सेवाएँ नहीं प्रदान कर सकता था जिनकी कि समाज को उससे आशा करनी चाहिए। यह एक सीधा-सा नियम जैसा था कि पक्की जिल्द की लगभग 100 पेज की किताब का मूल्य उस समय 1.60 रु० या उससे कुछ ही अधिक रखा जाता था। छोटे प्रकाशक, जो किसी भी संस्करण की एक हज़ार से अधिक प्रतियाँ नहीं प्रकाशित करते थे, इतने ही पृष्ठों की पुस्तक

का मूल्य दो या सवा दो रुपये रखते थे। मूल्य निर्धारण करने का आधार आमतौर पर यह था : (क) उत्पादन की लागत—काग़ज़, छपाई, जिल्दसाज़ी आदि : 25 प्रतिशत; (ख) व्यापारियों का कमीशन : 35 प्रतिशत; (ग) रायल्टी : 15 प्रतिशत; (घ) ऊपर का ख़र्च (ओवरहेड) : $17\frac{1}{2}$ प्रतिशत; (ङ) प्रकाशक का मुनाफ़ा : $7\frac{1}{2}$ प्रतिशत।

इस फ़ार्मूले में संपादकीय ख़र्च और विज्ञापन तथा बिक्री बढ़ाने के अन्य उपायों के लिए कोई गुंजाइश नहीं रखी जाती थी। ऊपर का ख़र्च बेहद कम आँका जाता था।

सर स्टैनली अनविन ने ब्रिटिश प्रकाशन-व्यापार का सर्वेक्षण में (1960 तक) कहा था : "मैं किसी भी ऐसे प्रकाशन-गुट को नहीं जानता जिसमें कारोबार का ख़र्च 30 प्रतिशत से कम आता हो।...ज्यादातर यह ख़र्च 35 प्रतिशत से अधिक ही होता है, इसलिए नहीं कि इस तरह के कारोबारों में बहुत फ़िज़ूलखर्ची होती है, बल्कि इसलिए कि आम खपत की किसी भी दूसरी चीज़ की तुलना में, जैसे चाय, इस कारोबार में बिक्री की कुल मात्रा बहुत कम होती है और इसमें ब्योरे की छोटी-छोटी बातें उसके अनुपात में बेहद ज्यादा होती हैं।

सर स्टैनली ने अपनी पुस्तक द ट्रुथ एबाउट पब्लिशिंग के सातवें संस्करण के परिशिष्ट 5 में इस ख़र्च का ब्योरा (प्रतिशत अनुपात के रूप में) इस प्रकार दिया है :

मज़दूरी तथा वेतन, ग्रेचुइटी (बोनस) आदि—13.00; यात्रा का ख़र्च और कमीशन—3.75; ढुलाई और पैकिंग—1.50; पानी तथा बिजली आदि—0.35; किराया, छोटे-मोटे स्थानीय टैक्स आदि—1.80; बाहर के लोगों और विशेषज्ञों से पांडुलिपि पढ़ाने का ख़र्च—0.60; बीमा—0.20; डाक, तार, टेलीफ़ोन—2.10; स्टेशनरी आदि—0.70; गोदाम—0.40; आडिटिंग समेत विभिन्न फुटकर ख़र्च—0.60; मोटर का ख़र्च, उसकी टूट-फूट, जिसमें मूल्य-ह्रास शामिल है (भारतीय प्रसंग में आवाजाही का ख़र्च)—0.50; विज्ञापन—5.00। इन तमाम ख़र्चों का कुल योग 30.50 प्रतिशत होता है। इस ब्योरों की विभिन्न मदों में भी बहुत अंतर दिखायी दिया। विज्ञापन सहित कारोबार का कुल ख़र्च 22 से 36 प्रतिशत के बीच आता था। 1960 में अधिकांश प्रकाशकों के यहाँ यह ख़र्च कुल बिक्री के 26 प्रतिशत से अधिक था। उस समय से मुद्रा-स्फीति और सरकारी वसूलियों के कारण यह अनुपात काफ़ी बढ़ गया है।

सर स्टैनली ने यह भी बताया कि इन मदों में न तो कहीं किसी प्रकाशन की विफलता के लिए गुंजाइश रखी गयी थी (जिसमें ग़लत पुस्तक चुन लेने के कारण प्रकाशक उसे बेच नहीं पाता) और न उत्पादन की ग़लतियों के लिए (जिसमें उचित मात्रा से अधिक माल व्यापारी के यहाँ जमा रहता है)।

सर स्टैनली अनविन ने कारोबार के ऊपर के ख़र्च की विभिन्न मदों का जो ब्योरा दिया है उसी तरह डेटस सी० स्मिथ जूनियर ने विकासशील देशों में पुस्तक-प्रकाशन की अर्थ-व्यवस्था के बारे में 1976 में यूनेस्को की ओर से कराये गये एक सर्वेक्षण में एक ब्योरा तैयार किया था। वह इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि "प्रकाशन-उद्योग के पुराने लोग बिक्री से होने वाली कुल आमदनी के 40 प्रतिशत भाग को ऊपर के ख़र्च के लिए बिलकुल स्वाभाविक समझते हैं।...विकासशील देशों के प्रकाशक शायद अपने ऊपर के ख़र्च को बहुत कम करके आँकते हैं और विज्ञापन के लिए ज्यादा पैसा नहीं रखते हैं। प्रकाशन-उद्योग में जो पुराने लोग हैं वे बिक्री की आमदनी के कम-से-कम 10 प्रतिशत भाग को विज्ञापन के लिए स्वाभाविक खर्च मानते हैं।" उनका निष्कर्ष यह था कि विकासशील देशों के कुछ प्रकाशक अपने ऊपर के खर्च की कुछ मदों को ध्यान में नहीं रखते और विज्ञापन तथा बिक्री बढ़ाने के अन्य उपायों पर ज़रूरत से कम ख़र्च करते हैं।

हिंदी प्रकाशन में, और भारत की दूसरी भाषाओं के प्रकाशन-व्यापार में भी, ऊपर के खर्च (ओवरहेड) में ये मदें आती हैं :

(1) विज्ञापन और बिक्री बढ़ाने के अन्य उपाय; (2) बैंक का सूद, कमीशन और टैक्स आदि; (3) सेल्समैनों का कमीशन; (4) साइकिलों, मोटरों, बिजली और फ़र्नीचर आदि की मरम्मत; (5) ढुलाई (स्थानीय, बाहर की); (6) आवा-जाही का खर्च; (7) बिजली और पानी का खर्च; (8) कर्मचारियों का वेतन, बोनस तथा ग्रेचुइटी; (9) संपादन, पांडुलिपियों को टाइप कराने तथा उन्हें प्रेस में भेजने के लिए तैयार कराने का ख़र्च; (10) किराया और माल भेजने का ख़र्च (रेल से, या सड़क-मार्ग से); (11) लगायी गयी, या क़र्ज़ ली गयी पूँजी पर ब्याज; (12) बीमा; (13) पैकिंग का खर्च; (14) डाक और टेलीफ़ोन; (15) दफ़्तर और गोदामों का किराया; (16) स्टेशनरी; (17) बिक्री के लिए या पाठ्य-पुस्तकों अथवा सहायक पाठ्य-पुस्तकों के रूप में चुने जाने के लिए पुस्तकें भेजने का ख़र्च; (18) कर्मचारी कल्याण; (19) आर्डर लेने के लिए शहर से बाहर जाने वाले लोगों का ख़र्च और वेतन के अलावा उनका अतिरिक्त ख़र्च; (20) ऑडिटरों और वकीलों आदि का ख़र्च।

ऊपर के ख़र्च के सिलसिले में डेटस सी० स्मिथ ने कुछ बहुत ही पते की बातें कही हैं : "हर दृष्टि से प्रकाशन में होने वाले सभी ख़र्चों में से ऊपर का ख़र्च सबसे अधिक अरुचिकर होता है। इसका हिसाब लगाना सबसे कठिन होता है; जो लोग प्रकाशक नहीं हैं उन लोगों के लिए इसी ख़र्च के बारे में यह विश्वास करना सबसे कठिन होता है कि सचमुच इतना ख़र्च होता है और यह कि प्रकाशन के कुल ख़र्च में उसका यह अनुपात उचित है; और सच तो यह है कि स्वयं प्रकाशकों के लिए भी अपने दिमाग़ में इसका औचित्य स्थापित करना सबसे कठिन होता है। हर

आदमी यही चाहता है कि अगर यह ऊपर का ख़र्च न होता तो कितना अच्छा था...।" डेटस सी० स्मिथ आगे चलकर कहते हैं कि सारी दुनिया में छोटी प्रकाशन-संस्थाओं का जो दिवाला निकलता है उसका सबसे बड़ा कारण शायद यही होता है कि वे पहले से इस बात का अनुमान नहीं लगा पातीं कि ऊपर का ख़र्च कितना होगा ? वह 'ऊपर के ख़र्च' या 'ओवरहेड' की परिभाषा प्रकाशन के ख़र्च के उस भाग के रूप में करते हैं जिसे किसी एक पुस्तक पर नहीं डाला जा सकता। वास्तव में इस प्रकार के ख़र्च उत्पादन के क्षेत्र में भी होते हैं और विक्री के क्षेत्र में भी और सारी दुनिया में उनमें ऊपर बतायी गयी मदें शामिल रहती हैं।

स्मिथ ने यह मत भी व्यक्त किया है कि विकासशील देशों के प्रकाशकों को संपादन के ख़र्च का विशेषरूप से ध्यान रखना चाहिए। "सच तो यह है कि संपादन के ख़र्च से ही हर चीज़ की शुरुआत होती है।" उनके अनुसार, संपादन के ख़र्च में लेखक की रायल्टी या एकमुश्त भुगतान भी शामिल है। इन ख़र्चों में अनुवाद, संशोधन, उद्धरण शामिल करने की अनुमति प्राप्त करने, और उन संपादकों को दी जाने वाली रक़म भी शामिल है जो पूरी पांडुलिपि को पढ़कर उसे प्रेस में छपने के लिए भेजने की दृष्टि से तैयार करते हैं, वर्तनी तथा व्याकरण की ग़लतियाँ निकालते हैं, तथ्यों के सही होने, अभिव्यक्ति की स्पष्टता और मानहानि के खतरे के बारे में लेखक के सामने शंकाएँ प्रस्तुत करते हैं। यही लोग अच्छी पांडुलिपियों की टोह में भी रहते हैं। डेटस स्मिथ के अनुसार, आमतौर पर संपादकों पर होने वाला खर्च प्रकाशक के कुल ख़र्च का ही एक हिस्सा समझा जाता है, जिसे किसी एक पुस्तक पर नहीं डाला जा सकता, क्योंकि ज़रूरी नहीं है कि संपादक जितनी पुस्तकों की छानवीन करे उन सभी को प्रकाशित ही कर दिया जाये। डेटस स्मिथ के सर्वेक्षण से यह पता चला कि एशिया के प्रकाशक औसत से 18.6 प्रतिशत रक़म ऐसी पुस्तकों पर खर्च करते हैं जिनके संस्करण एक हज़ार प्रतियों से अधिक के नहीं होते, 13.3 प्रतिशत उन किताबों पर जिनके संस्करण 5 हज़ार प्रतियों तक के होते हैं और 12.3 प्रतिशत उन पुस्तकों पर जिनके संस्करण 10,000 प्रतियों के होते हैं। इसमें संदेह है कि हिंदी का कोई प्रकाशक अपने प्रकाशनों का विक्री का मूल्य निर्धारित करते समय संपादन के इन ख़र्चों को ध्यान में रखता हो।

ऊपर के खर्च का (जिसमें विज्ञापन का ख़र्च शामिल है) एक बार फिर उल्लेख करते हुए, डेटस स्मिथ अपने सर्वेक्षण में इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि एशिया के प्रकाशक लगभग 21.4% रक़म ऐसी पुस्तकों पर खर्च करते हैं जिनकी एक हज़ार प्रतियाँ प्रकाशित होती हैं, 20.9 प्रतिशत ऐसी पुस्तकों पर जिनकी 5,000 प्रतियाँ प्रकाशित होती हैं और 20.7 प्रतिशत उन पुस्तकों पर जिनकी 10,000 प्रतियाँ प्रकाशित होती हैं। "...ऊपर के ख़र्च के इस निम्न स्तर में शायद ऊपर

के खर्च के अरुचिकर सत्य का सीधे-सीधे सामना करने के वजाय 'आँखें फेर लेने' की प्रवृत्ति प्रतिबिंबित होती है। ऊपर के खर्च की ओर ध्यान न देने की प्रवृत्ति सभी देशों में पायी जाती है, लेकिन विकासशील देशों में इस प्रवृत्ति में वहुत गंभीर ख़तरे छुपे होते हैं।"

इसी प्रकार उनके सर्वेक्षण में इस वात का भी पता चला कि एशिया के प्रकाशक उस मद पर जिसे वे संपादन कहते हैं, 1 हज़ार, 5 हज़ार और 10 हज़ार के संस्करणों पर क्रमश: 3.8 प्रतिशत, 4.2 प्रतिशत और 4.2 प्रतिशत ख़र्च करते हैं। यह संपादन का खर्च और विज्ञापन का ख़र्च ऊपर के ख़र्च में शामिल किये जाते हैं और इससे पुस्तक की विक्री को वढ़ावा देने में शायद ही कोई मदद मिलती हो। उन्होंने यह भी पता लगाया कि एशिया के प्रकाशक अब भी अपनी पुस्तकों का मूल्य केवल उत्पादन की लागत के चार गुने से कम ही रखते हैं, चाहे संस्करण एक हज़ार प्रतियों का हो, या दस हज़ार प्रतियों का।

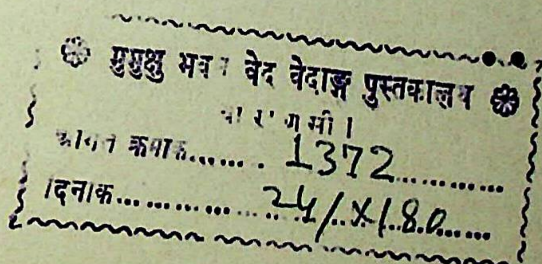
उनके सर्वेक्षण के अनुसार, प्रकाशक समाज आम तौर पर 1,000 प्रतियों के संस्करण पर 6 प्रतिशत, 5,000 प्रतियों के संस्करण पर 14 प्रतिशत और 10,000 प्रतियों के संस्करण पर 15 प्रतिशत मुनाफ़ा कमाता है। 5,000 या 10,000 प्रतियों के संस्करण मुख्यत: शैक्षिक क्षेत्र की पुस्तकों के होते हैं जिन पर व्यापारियों को कम कमीशन दिया जाता है और विज्ञापन पर और प्रकाशक के कार्यालय में संपादन पर लगभग कुछ भी नहीं ख़र्च करना पड़ता। जव किसी पुस्तक का उपयोग अनिवार्य होता है तो उसके लिए ऊपर का ख़र्च भी वहुत नहीं आता। जैसा कि यूनेस्को ने अक्करा और टोकियो की अपनी दो गोष्ठियों में पता लगाया, विकासशील देशों में पुस्तकों का 90 प्रतिशत प्रकाशन शैक्षिक क्षेत्र में होता है और शैक्षिक क्षेत्र में ही पुस्तकों के वड़े-वड़े संस्करण प्रकाशित होते हैं। देश की अन्य भाषाओं की तरह हिन्दी में भी वाक़ी 10 प्रतिशत पुस्तकें सामान्य विषयों की पुस्तकें होती हैं जिन पर प्रकाशक को कम-से-कम लाभ होता है और जिनमें जोखिम भी रहता है।

हर वर्ष प्रकाशित होने वाली पुस्तकों के विषयानुगत विश्लेषण से पता चला है कि हिन्दी में साहित्यिक पुस्तकों के प्रकाशन तथा उनकी बिक्री में निरन्तर कमी होती गयी है। प्रकाशन-व्यापार का लाभप्रद भाग, जिसका संवंध शैक्षिक क्षेत्र से है, लगभग पूरी तरह सरकार ने अपने हाथ में ले लिया है और हर दृष्टिकोण से यह अदूरदर्शिता की नीति है और इससे प्रकाशन का विकास कुंठित होता है। शैक्षिक पुस्तकों के प्रकाशन से होने वाला लाभ अब प्रकाशक समुदाय को उपलब्ध नहीं रह गया है, जवकि सामान्य विषयों की पुस्तकों के प्रकाशन तथा उनकी बिक्री से इतना काफ़ी लाभ नहीं होता कि वे काफ़ी संख्या में सामान्य विषयों की पुस्तकें प्रकाशित करते रह सकें। किसी देश की संस्कृति के स्तर को इन सामान्य

पुस्तकों के पैमाने से ही नापा जा सकता है, न कि शैक्षिक पुस्तकों, पाठ्य-पुस्तकों और सहायक पाठ्य-पुस्तकों के प्रकाशन से, और हमारा 90 प्रतिशत प्रकाशन इन्हीं पुस्तकों का होता है। यह बात पूरे भरोसे के साथ कही जा सकती है कि नयी परम्पराएँ डालने वाली और नये विचारों को व्यक्त करने वाली पुस्तकों का अधिकांश प्रकाशन इसलिए अवरुद्ध हो जाता है कि प्रकाशक उन पुस्तकों में पैसा लगाने को तैयार नहीं होते जिनमें इतना काफ़ी मुनाफ़ा होने की संभावना न हो कि उनकी मेहनत और उनकी ओर से लगायी गयी पूंजी सार्थक समझी जा सके; इसके अलावा इन पुस्तकों के प्रकाशन में जोखिम भी उठाना पड़ता है। ख़ासतौर पर इसलिए और भी कि हिंदी के क्षेत्र में उन्हें पुस्तकालयों का लगभग कोई भी समर्थन प्राप्त नहीं है। स्वाभाविक ही है कि शैक्षिक-संस्थाओं से संलग्न अधिकांश पुस्तकालय अपने यहाँ केवल शैक्षिक पुस्तकें ही रखना चाहते हैं, और उनसे कुछ ज्यादा सहारा भी नहीं मिलता, क्योंकि उन्हें जो अनुदान मिलता है वह बहुत ही नगण्य होता है। बड़ी खेदजनक बात है कि हमारी केन्द्रीय और राज्यों की सरकारों ने देश की प्रगति में फूलते-फलते प्रकाशन-व्यापार की सामाजिक-आर्थिक तथा सांस्कृतिक उपयोगिता को नहीं समझा है और वे पुस्तकालयों की व्यापक व्यवस्था की ओर से पुस्तकें ख़रीदे जाने के लिए काफ़ी अनुदान का प्रवन्ध करने की ओर ध्यान नहीं देतीं। इंग्लैंड में उन 'काउंटियों' में जहाँ भारतीय मूल के लोग रहते हैं, हिन्दी, पंजाबी, उर्दू और गुजराती की किताबें ख़रीदी जाती हैं, और इस प्रकार इन भाषाओं को जीवित रखा जाता है। इसे वे अपना संस्थागत दायित्व समझते हैं।

हिंदी प्रकाशन कोई प्रगति तभी कर सकता है जब प्रकाशन-व्यापार की जटिलताओं तथा कठिनाइयों को वे लोग ज्यादा अच्छी तरह समझें, जिनका पुस्तकों से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध है, क्योंकि पुस्तकें ही आज की वैज्ञानिक संस्कृति का वाहन हैं।

जुलाई, 1979 में अंग्रेजी लेख का अनुवाद





ओंप्रकाश प्रकाशक थे। वह प्रकाशक न होते, तो जो कु
और होते; वह भी उतने ही अच्छे होते। समझ अ
सुरुचि के साथ जहाँ तक सम्भव हो किसी भी काम
पूर्णता तक पहुँचाना उनकी प्रकृति थी। उसी प्रकृति
परिणाम था कि जब हिन्दी प्रकाशन के नाम पर क
लायक़ कुछ नहीं था, तब ओंप्रकाश ने वे मानदण्ड स्थापि
किये, जिन पर आज हिन्दी प्रकाशन को गर्व हो सक
है। 1950 से आज तक चाहे वह आलोचना का क्षेत्र
या कविता-कहानी का, यह निस्संदेह कहा जा सकत
कि नयी जमीन तोड़ने का काम ओंप्रकाश के द्वारा
शुरू किया गया। सही लेखन और लेखन के भविष्
प्रति उनकी सहज रुचि थी और उसके प्रति वे उ
दायित्व का अनुभव करते थे। प्रतिभा, बिहार या उ
प्रदेश के किसी गाँव में है तो वहाँ कुछ दिनों के
उनका दूसरा घर बन जाता था। 'सौदा घाटे का है,
बात नहीं, यह तो संतोष रहेगा कि एक असली चीज़
छापी।' प्रकाशन उनके लिए महज व्यवसाय नहीं,
व्यसन भी था।

दुनिया के हर कोने में हज़ारों लोग मुझसे परिचित है
मेरे दोस्त आधे दर्जन से अधिक नहीं। मेरा दोस्त हो
लिए बड़ा लेखक या और कुछ भी बड़ा होने की शर्त
है, पर शुद्ध आदमी होना बहुत ज़रूरी है। ओंप्रकाश
दोस्त थे। कभी मज़ाक ही में उन्होंने शिकायत क
"पंडितजी, तुम शायद मेरा कोई बड़ा फ़ायदा क
लेकिन मैं तुम्हारा कोई बड़ा नुक़सान करूँगा, तभ
मुझे याद करोगे।" मैं तो कुछ न कर सका, पर ओं
ने मेरा ऐसा नुक़सान कर दिया, जो पूरा न
सकता।

सुरेन्द्र ति

आवरण चित्र साभार
सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन



